सद्ज्ञान ग्रन्थमाला पुष्प

यज्ञोपवीत द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति

सत्य
प्रेम
न्याय

— श्रीराम शर्मा आचा

श्रद्धांजलि प्रकाशन

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना
मथुरा (उ. प्र.)

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रथम बार १९५८

द्वितीय बार १९९०

मूल्य : ३)५० रु.

मुद्रक :
युग निर्माण प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा प्रकाशक :

यज्ञोपवीत द्वारा–

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति

❖

लेखक :
पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

❖
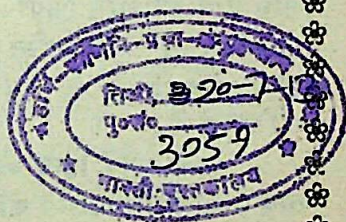
प्रकाशक–
युग निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि
मथुरा

द्वितीय बार १९९० मूल्य : ३)५० रु.

भूमिका

हिन्दू धर्म, आदर्शवादी, सिद्धान्त जीवी, संयमी तथा परमार्थी लोगों का धर्म है। इसके प्रणेता वे लोग हैं जिन्हें देवता और ऋषि की महिमामयी पदवी के साथ संबोधन किया जाता है और श्रद्धा पूर्वक जिनके लिए समस्त संसार का मस्तक नत होता है।

भारतीय धर्म की जितनी भी प्रणालियां, परम्पराएँ तथा विधि-व्यवस्थाएं हैं वे ऐसी हैं जो मनुष्य को देवत्व की ओर प्रेरित करती हैं। उन व्यवस्थाओं में यज्ञोपवीत का स्थान बहुत ऊंचा है, उस साधारण डोरे को निमित्त बनाकर हमारे प्रातस्मरणीय ऋषियों ने मानव प्राणी के संमुख ऐसा तत्व ज्ञान उपस्थित किया है जिसकी जानकारी मात्र से उद्विग्न मस्तिष्कों में शान्ति का संचार होता है और उसका आचरण करने पर तो पृथ्वी पर स्वर्ग लोग के दृश्य उपस्थित हो सकते हैं।

आज अनेक हिन्दू यज्ञोपवीत धारण करते हैं पर उसके तत्व ज्ञान तथा माहात्म्य को नहीं जानते। इसी प्रकार गायत्री मंत्र को भी याद तो कर लेते हैं पर उसमें सन्निहित शिक्षा से अपरिचित रहते हैं। इस पुस्तक में उपवीत और गायत्री के संबंध में आवश्यक जानकारी का उल्लेख किया गया है जिसके आधार पर भारतीय जनता में द्विजत्व के प्रति आकर्षण बढ़े और लोग पाशविक दृष्टिकोण से विमुख होकर मानवता के अपनाने के लिए अग्रसर हों। हमारा विश्वास है कि भारतीय जनता की आत्मिक उन्नति में यह पुस्तक अपनी महत्व पूर्ण सहायता देगी।

—श्रीराम शर्मा आचार्य।
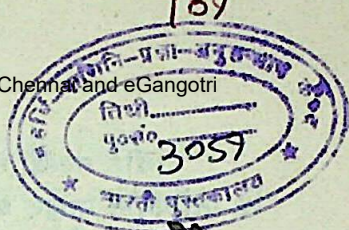
यज्ञोपवीत के सम्बन्ध में शास्त्रीय दृष्टि कोण-

शास्त्रों में यज्ञोपवीत की महिमा बड़े विस्तार से वर्णन की गई है। उसे प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी बताया गया है। देखिए—

कोटि जन्मार्जितं पापं ज्ञानाज्ञान कृतं च यत्।
यज्ञोपवीत मात्रेण पलायन्ते न संशयः॥

—पद्म पुराण कौशल खंड

करोड़ों जन्म के ज्ञान अज्ञान में किये हुए पाप यज्ञोपवीत धारण करने से नष्ट हो जाते हैं इसमें संशय नहीं।

येनेन्द्राय बृहस्पतिर्व्यासः पर्यदधादमृतं तेनत्वा
परिदधाम्यायुष्ये दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे॥

पा० गृ० २।२।७

जिस तरह इन्द्र को बृहस्पति ने यज्ञोपवीत दिया था उसी तरह आयु, बल, बुद्धि और सम्पत्ति की वृद्धि के लिए मैं यज्ञोपवीत धारण करता हूं।

देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तर्षयस्तपसे ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्॥

ऋग्वेद १०।१०९।४

प्राचीन तपस्वी सप्त ऋषि तथा देवगण ऐसा कहते हैं कि यज्ञोपवीत ब्राह्मण की महान शक्ति है। यह शक्ति अत्यंत शुद्ध चरित्रता और कठिन कर्तव्य परायणता प्रदान करने वाली है। इस यज्ञोपवीत को धारण करने से नीच जन भी परमपद को पहुंच जाते हैं।

अमौक्तिकमसौवर्ण्यं ब्राह्मणानां विभूषणम् ।
देवतानां च पितृणां भागो येन प्रदीयते ॥

मृच्छकटिक १०-१८

यज्ञोपवीत न तो मोतियों का है और न स्वर्ण का फिर भी यह ब्राह्मणों का आभूषण है। इसके द्वारा देवता और ऋषियों का ऋण चुकाया जाता है।

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥

—ब्रह्मोपनिषद्

यज्ञोपवीत परम पवित्र है, प्रजापति ईश्वर ने इसे सबके लिए सहज ही बनाया है। यह आयुवर्धक, स्फूर्तिदायक, बन्धन से छुड़ाने वाला, पवित्रता देने वाला है। यह बल और तेज देता है।

त्रिरस्यता परमासन्ति सत्यास्यार्हा देवस्य जनि मान्यग्नेः ।
अनन्ते अन्तः परिवीत आगाच्छुचिः शुक्रो अर्यो रोरूचानः ।

—ऋग्वेद ४।७।१

इस यज्ञोपवीत के परम श्रेष्ठ तीन लक्ष्य हैं। सत्य व्यवहार की आकांक्षा, अग्नि के समान तेजस्विता और दिव्य गुणों की पवित्रता इस के द्वारा भली प्रकार प्राप्त होती है।

सदा यज्ञोपवीतिना भाव्यं सदाबद्ध शिखेन च ।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम् ॥
—बोधायन

सदा यज्ञोपवीत पहने और शिखा में गांठ लगाकर रहे बिना शिखा और बिना यज्ञोपवीत वाला जो धार्मिक कर्म करता है सो निष्फल जाते हैं ।

बिना यज्ञोपवीतेन तोयं यः पिबते द्विजः ।
उपवासेन चैकेन पंच गव्येन शुद्धयति ॥

यज्ञोपवीत न होने पर द्विज को पानी तक न पीना चाहिए । (यदि इस नियम का भंग होने से वह पतित हो जाय तो) एक उपवास करने पर तथा पंच गव्य पीने पर उसकी शुद्धि होती है ।

नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानि नयनादृते ।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ।

यज्ञोपवीत होने से पहले बालक को वेद न पढ़ावे । क्योंकि जब तक यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता तब तक ब्राह्मण का बालक भी शूद्र समान है ।

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेश न मिष्यते ।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधि पूर्वकम् ।

जब बालकों का उपनयन संस्कार हो जावे तभी शास्त्र की आज्ञानुसार उसका अध्ययन आरम्भ होना चाहिए इससे पूर्व नहीं ।

जन्मना जायते शूद्र संस्कारात् द्विज उच्यते ।
वेद पाठी भवेद् विप्रः, ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ।

जन्म से सब शूद्र हैं। यज्ञोपवीत होने से द्विज बनते हैं जो वेदपाठी है वह विप्र है। जो ब्रह्म को जानता है वह ब्राह्मण है।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
तेषां जन्म द्वितीयं तु विज्ञेयं मौञ्जिबंधनम्।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यह तीनों द्विज कहलाते हैं क्योंकि यज्ञोपवीत धारण करने से इनका दूसरा जन्म होता है।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

अथर्व० ११, ३, ५, ३

गर्भ में बस कर माता-पिता के संबंध द्वारा मनुष्य का साधारण जन्म घर में होता है। दूसरा जन्म विद्या रूपी माता के गर्भ में, आचार्य रूपी पिता द्वारा गुरु-गृह में यज्ञोपवीत और विद्याभ्यास द्वारा होता है।

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिन्हितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥

यज्ञोपवीत-मेखला-धारण करने से मनुष्य का ब्रह्म जन्म होता है। उस जन्म में गायत्री माता है और आचार्य पिता है।

वेद प्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते।
नह्यस्मिन्युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात्॥

वेद पढ़ाने वाले आचार्य को पिता कहते हैं। जब बालक का यज्ञोपवीत संस्कार हो जाता है तब उसे धार्मिक कर्मों को करने का अधिकार मिलता है, इससे पूर्व नहीं।

मातुरग्रेऽधि जननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात् ।

पहला जन्म माता के पेट से होता है । दूसरा यज्ञोपवीत संस्कार से होता है ।

आचार्य उपनयमानो, ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे विभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि संयन्ति देवाः ।

अथर्व० ११, ३, ५, ३, ४, ५

आचार्य जब ब्रह्मचारी का उपनयन करता है वही वास्तविक जन्म है। तीन रात्रि तक आचार्य उसे गर्भ में रखते हैं तब उसका देव तुल्य जन्म होता है ।

उपरोक्त शास्त्र वचनों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञोपवीत धारण करना कितना महत्व पूर्ण है । इस सूत्र के माध्यम से पशु को मनुष्य बनाने का संस्कार किया जाता है, उसकी मनोभूमि पर यह छाप जमाई जाती है कि पशुओं की तरह मनुष्यों को शिश्नोदर परायण-रोटी और कामुकता के पीछे ही पागल नहीं बना रहना है वरन् जीवन को आदर्शमय, उद्देश्यमय, धर्ममय बनाने के लिए नियोजित करना है । यह आयोजन, यह व्रत, यह संकल्प यह प्रतिज्ञा धारण ही जनेऊ पहनना है । इस व्रत को कंधे पर धारण करने वाला पशुता से ऊँचा उठ कर मनुष्यता की मनो भूमि में विकसित होना आरम्भ करता है इसलिए यह द्विजत्व या दूसरा जन्म धारण करना कहा जाता है भारतीय धर्म विज्ञान के आचार्यों ने उस बात पर बहुत अधिक जोर दिया है कि लोग अपने बालकों को छोटी आयु में ही उपवीत करादें ताकि वे बचपन से ही धर्म का, कर्तव्य का महत्व अनुभव करने लगें ।

यज्ञोपवीत न धारण करने का दंड।

जो लोग आलस्य, प्रमाद या अज्ञानवश उपवीत धारण नहीं करते। 'हम से जनेऊ सधेगा नहीं, ऐसी वे सिर-पैर की आशंकाएं और दलीलें गढ़ कर, इस महान् धर्म धारणा से बचते हैं उनकी मूर्खता के प्रति शास्त्रकारों ने प्रातः स्मरणीय ऋषियों का अत्यन्त क्रोध प्रदर्शित किया है, उनकी बुरे से बुरे शब्दों में निन्दा की है, और स्पष्ट शब्दों में उनका सामाजिक बहिष्कार करने का आदेश दिया है। ईश्वर ने यज्ञोपवीत को सब के लिए बड़ा सरल बनाया है, फिर भी उसे धारण करके आत्मोन्नति की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न यदि नहीं किया जाता तो इसका अर्थ यही हो सकता है कि वे लोग पशु स्थिति में ही पड़े रहना पसन्द करते हैं। ऐसे लोगों को विरोध द्वारा, सामाजिक तिरस्कार द्वारा सीधे रास्ते पर लाने के कटु उपायों का प्रयोग करने का भी शास्त्रकारों को आदेश देना पड़ा है। उनको शूद्र कह कर एक प्रकार की गाली दी गई है और ऐसे लोगों के साथ दुर्व्यवहार करके, क्रोध और घृणा प्रदर्शित करके, दंड देकर भी ऐसा प्रयत्न करने के लिए कहा गया है ताकि वे अपनी भूल स्वीकार करके जीवन का सदुपयोग करने के लिए, प्रतिज्ञामय जीवन बिताने के लिए यज्ञोपवीत धारण करने के लिए तैयार हो जांय। नीचे कुछ ऐसे प्रमाण दिये जाते हैं जिनमें यज्ञोपवीत न पहनने वालों के सामाजिक बहिष्कार का विधान है। देखिए—

> शिशूपनयनं ये तु न कुर्वन्ति द्विजातयः।
> सोपाध्यायास्तु ते सर्वे ध्रुवं निरयगामिनः।
>
> —नारद संहिता

जो द्विजाति अपने बालकों का जनेऊ नहीं करते वे अपने पुरोहित के साथ निश्चय नरक में जाते हैं।

यज्ञोपवीत संस्कारं विना ये हि द्विजातयः।
पादोदकं सुरा तुल्यं कर्पटं तुलसीदलम्॥
काकविष्ठा समं तस्य पिंड दानं पितुर्मुखे।
गोमासं भोजनं तस्य जलं शूकर रक्त वत्॥

—नारद संहिता।

यज्ञोपवीत रहित द्विज के हाथ का दिया हुआ चरणामृत मदिरा के तुल्य और तुलसी पत्र कर्पट के समान है। उसका दिया हुआ पिंड दान उसके पिता के मुख में काक विष्ठा के समान है। उसके यहां भोजन करना गोमांस के समान और जल पीना शूकर का रक्त पीने के समान है।

यज्ञोपवीतं हीनेन देवि शृणु महेश्वरी।
अन्न विष्ठा समःतस्य जलं मूत्र समं स्मृतम्।
तत्कृतं तस्य वा श्राद्धं सर्वं संयात्यधोगतिम्॥

—मत्स्य सूक्त।

शिवजी पार्वती से कहते हैं कि हे देवी! सुनो, यज्ञोपवीत न पहनने वाले द्विज का अन्न विष्ठा के समान और जल मूत्र के समान है। उसका किया हुआ श्राद्ध सब को अधोगति में ले जाता है।

यज्ञोपवीत-संस्कारं विना ये हि द्विजातयः,
वेदमंत्रा न विरतं जप तप कृत बुद्धयः।

तेषां तु स जपो व्यर्थो विपरीतफलो भवेत्,
असंस्कृतेन नो जप्या अतो मंत्रा द्विजन्मना ॥

—वेदान्त रामायण

जो द्विजाति जनेऊ-संस्कार किए बिना मंदबुद्धि से मन्त्र जपते और पूजा-पाठादि करते हैं, उनका सब निष्फल है और फल के बदले हानि होती है, अतः बिना जनेऊ-संस्कार हुए द्विजातियों को मन्त्रादि का जप नहीं करना चाहिए।

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा,
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा।
न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते,
निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति।

—मनुस्मृति अध्याय ८।४१३,४१४

शूद्र से तो सेवा ही करावे चाहे वह खरीदकर आया हो चाहे बिना खरीदा, क्योंकि ब्रह्मा ने शूद्र को ब्राह्मणों की दासता करने के लिये ही उत्पन्न किया है। यदि स्वामी छुटा भी दे, तो भी शूद्र दास्य-कर्म से छुटकारा नहीं पा सकता, क्योंकि दासता उसका स्वाभाविक धर्म है। कौन उस कर्म से उसे अलग कर सकता है?

प्रकल्प्या तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बाद् यथार्हतः,
शक्तिं चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम् ॥
उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च,
पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः ॥

मनुस्मृति अध्याय १०।१२४, १२५

अर्थ--भृत्य अर्थात् शूद्र की परिचर्या अर्थात् सेवा करने की शक्ति, काम करने की चतुराई और उसके कुटुंब का कितने में गुजर हो सकती है, यह देखकर ब्राह्मण उसकी जीविका (मजदूरी) नियत कर दे। और मजदूरी में उसे भोजन से बचा हुआ जूठा अन्न, फटे-पुराने कपड़े, धान्य (अन्न) की पछोड़न, और पुराना बर्तन-भांडा देना चाहिए।

भूमावन्नं प्रदातव्यं यथैवश्वा तथैव सः।

आपस्तंब ६-३४

अर्थ—उसको पृथिवी पर ही अन्न खाने को देना चाहिए क्योंकि जैसे कुत्ता है, वैसे ही वह शूद्र है।

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः,
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते।
यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः,
तं राजा निधनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत्।

—मनु० अ० १०।१२९-९६

अर्थ—धन कमाने की शक्ति रखते हुए भी शूद्र को धन का संचय न करना चाहिए। क्योंकि शूद्र धनवान होकर ब्राह्मण को बाधा देता है। अगर लोभ में आकर अधम जाति शूद्र ऊँची जाति के कर्मों को करके धन कमाने लगे तो राजा उसका सब छीनकर उसे फौरन देश से निकाल दे।

शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम्।

—मनु० ५।१४०

अर्थ—न्याय के मार्ग पर चलने वाले शूद्र को चाहिए कि हर महीने अपना शिर घटा लिया करे।

शूद्रश्चतुर्थो वर्णस्तु सर्वसंस्कारवर्जितः,
उक्तस्तस्य तु संस्कारो द्विजेष्वात्मनिवेदनम् ।

विष्णुस्मृति अ० १।१५

चौथा वर्ण शूद्र सब संस्कारों से हीन है, उसका संस्कार यही है कि वह अपने आपको द्विजों के समर्पण कर दे

शूद्राणां द्विजशुश्रूषा परमो धर्म उच्यते,
अन्यथा कुरुते किंचित् तद्भवेत्तस्य निष्फलम् ।

पाराशर स्मृति १।५०

द्विजों की सेवा करना ही शूद्र का परम धर्म है। इसके अतिरिक्त शूद्र जो धर्म-संबंधी कृत्य करता है, वह सब उसका निष्फल है।

विकर्म कुर्वते शूद्रा द्विजशुश्रूषयोज्झिताः ।
भवन्त्यल्पायुषस्ते वै निरयं यान्त्यसंशयम् ।

–पाराशर स्मृति अ० १।१९-२०

जो शूद्र द्विजों की सेवा को छोड़कर अन्य काम करता है, वह अल्पायु होता है, और निस्संदेह नरक में पड़ता है।

एके वै तच्छ्मशानं ये शूद्रास्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम् ।

वसिष्ठस्मृति अ० १८।९

कोई आचार्य कहते हैं कि शूद्र श्मशान के तुल्य अपवित्र है। इससे शूद्र के समीप वेद को न पढ़े।

न शूद्रस्य मतिं दद्यात् नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्,
न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ।

यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम्,
सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥

मनुस्मृति अ० ४।८०।८

शूद्र को बुद्धि नहीं देनी चाहिए, न यज्ञ का उच्छिष्ट और न हविष्कृत अर्थात् होम से बचा हुआ भाग देना चाहिए, और न उसको धर्म का उपदेश ही देना चाहिए। यदि कोई शूद्र को धर्म का उपदेश और व्रत का आदेश करता है, तो वह उस शूद्र के साथ 'असंवृत' नामवाले महा-अंधकाररूप नरक में डूबता है।

यावतः संस्पृशेदङ्गैर्ब्राह्मणाञ्छूद्रयाजकः
तावतां न भवेद्दातुः फलं दानस्य पौर्तिकम् ।

—मनु० (३-१७८)

शूद्र को पूजा-पाठ कराने वाला ब्राह्मण यदि किसी के घर पर श्राद्धादि में भोजन करते हुए ब्राह्मणों की पंक्ति में बैठ कर भोजन करता है, तो उसके स्पर्श से उन सम्पूर्ण ब्राह्मणों को खिलाने का फल दाता को नहीं होता।

अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्र प्रतिपूरण-मुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः ।

—गौतम धर्म सूत्र १२–४।

शूद्र यदि वेद को सुन पावे, तो उसके कानों में (पिघला हुआ) सीसा और लाख भरवा देना चाहिये। यदि वेद का उच्चारण करे, तो उसकी जिह्वा कटवा देनी चाहिए। यदि वेद का स्मरण करे, तो उसको मरवा देना चाहिए।

एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन्,
जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः । २७० ।
नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः,
निक्षेप्यो यो मयः शंकुर्ज्वलन्नास्ये दशांगुलः ।२७१।
धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः,
तप्तमास्ये चयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः । २७२।
येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः,
छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् । २७९
सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः,
कट्या कृतांको निर्वास्यः स्फिचं वाऽस्यावकर्तयेत् ।२८१।

—मनुस्मृति अ० ८

यदि शूद्र द्विजातियों को दारुण अर्थात् लगने वाली बात कहे, तो उसकी जीभ काट डाली जाय, क्योंकि वह नीच से उत्पन्न है। यदि शूद्र द्रोह से द्विजातियों के नाम और जाति का नाम ले, तो उसके मुंह में जलती हुई दस अंगुल की कील ठोकनी चाहिए। यदि शूद्र अहंकार से ब्राह्मणों को धर्मोपदेश करे, तो राजा उसके मुँह और कान में गरम तेल डलवा दे। और यदि शूद्र उच्च जातियों के साथ एक आसन पर बैठने की इच्छा करे, तो राजा उसकी कमर दाग कर उसे देश से निकाल दे अथवा उसके चूतड़ कटवा दे।

विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद् द्रव्योपादानमाचरेत्,
न हि तस्यास्ति किंचित् स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः।

--मनुस्मृति ८-४१७

ब्राह्मण को चाहिए कि निर्भय होकर शूद्र का द्रव्य ले ले, क्योंकि शूद्र का अपना कुछ नहीं है, उसका धन उसके मालिक (ब्राह्मणादि) का ही है।

मार्जारनकुलौ हत्वा चापं मण्डूकमेव च,
श्वागोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्या व्रतं चरेत् ।

—मनु० ११-१३१ ।

बिल्ली, नेवला, चिड़िया, मेंढक, कुत्ता, गोधा, उल्लू और कौवा के मार डालने, में जितना पाप होता है, उतना ही शूद्र के मार डालने में होता है।

अमृतं ब्राह्मणस्यान्नं क्षत्रियान्नं पयस्मृतम् ,
वैश्य चान्नमेवान्नं शूद्रान्नं रुधिरं ध्रुवम् ।

—अंगिरा ।

ब्राह्मण का अन्न अमृत के तुल्य, क्षत्रिय का दूध के तुल्य, वैश्य का अन्न के तुल्य और शूद्र का अन्न निश्चय रुधिर के तुल्य है।

दक्षिणार्थं तु यो विप्रः शूद्रस्य जुहयाद्धविः ,
ब्राह्मणस्य भवेच्छूद्रः शूद्रस्तु ब्राह्मणो भवेत् ।

—पाराशा अ० १२-३७ ।

जो ब्राह्मण दक्षिणा के शूद्र के हवि का होम कराता है, वह ब्राह्मण तो (दूसरे जन्म में) शूद्र होता है और शूद्र ब्राह्मण हो जाता है।

शूद्रान्ने नोदरस्थेन यः कश्चित् म्रियते द्विजः,
स भवेत्सूकरो ग्राम्यस्तस्य वा जायते कुले ।

—वाशिष्ठ अ० ६-२७ ।

शूद्र के अन्न को खाकर जो ब्राह्मण मरता है, वह दूसरे जन्म में गाँव का सुअर होता है, अथवा उसी शूद्र यजमान के कुल में उत्पन्न होता है।

गृद्धो द्वादश जन्मानि सप्तजन्मानि सूकरः
श्वानश्च सप्त जन्मानि इत्येवं मनुरब्रवीत् ।

—व्यास।

वह बारह जन्म तक गीध, सात जन्म तक सूअर और सात जन्म तक कुत्ता होता है, ऐसा मनु ने भी कहा है।

उपरोक्त श्लोकों से किसी को यह अनुमान न लगा लेना चाहिए कि किसी वंश या जाति विशेष के लिए हमेशा इसी प्रकार का व्यवहार करने के लिए ऐसी व्यवस्था बनाई गई है। नहीं, ऐसा कदापि नहीं होता। भारतीय धर्म अपनी उदारता, दया, क्षमा, प्रेम, भ्रातृ-भाव एवं समानता के लिए प्रसिद्ध हमारे शास्त्र और ऋषि महर्षि भी प्राणिमात्र से अपनी आत्मा और परमात्मा को कायम समझ कर उनकी सेवा के लिए सच्चे हृदय से तत्पर रहने का आदेश करते हैं, फिर किसी जाति या वर्ग के साथ सदा कठोर व्यवहार करने का आदेश किस प्रकार दे सकते हैं? उपरोक्त व्यवस्था तो केवल उन व्यक्तियों को डराने धमकाने के लिए है जो उच्च जीवन बिताने का व्रत लेने से भागते हैं और पशुता के सिद्धान्तों का आचरण करते हुए जीवन बिताना चाहते हैं। शास्त्रकारों का विश्वास था कि इतने बड़े दंड, बहिष्कार, निंदा और भर्त्सना को कोई व्यक्ति चाहे वह कितना ही अविकसित मस्तिष्क का क्यों न हो, अधिक समय तक सहन न करेगा और वह सर्व हित-कारी लोक-मत का आदर करने को विवश

होगा। द्विजत्व और यज्ञोपवीत को धारण कराने के लिए एक दबाव के रूप में उपरोक्त निन्दा एवं दंड व्यवस्था है। जब कोई भूला मनुष्य अपनी भूल अनुभव करे और कर्तव्य पथ पर लौट आने को तैयार हो जाय तो उसके लिए इस प्रकार के प्रति दंडों की कोई आवश्यकता नहीं, उसका तो द्विजत्व की दीक्षा के लिए शास्त्रकारों ने स्वागत ही किया है। इस प्रकरण में कहे हुए शास्त्रीय आदेशों का सार यह है कि हमें पूरी दिलचस्पी के साथ यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए और उसके अतुलित लाभों से लाभान्वित होना चाहिए।

यज्ञोपवीत संबंधी कुछ नियम।

(१) शुद्ध खेत में उत्पन्न हुए कपास को तीन दिन तक धूप में सुखावे। फिर उसे स्वच्छ कर हाथ के चरखे से काते। कातने का कार्य प्रसन्न चित्त, कोमल स्वभाव एवं धार्मिक वृत्ति वाले स्त्री पुरुषों द्वारा होना चाहिए। क्रोधी, पापी, रोगग्रस्त, गंदे शोकातुर या अस्थिर चित्त वाले मनुष्य के हाथ का कता हुआ सूत्र यज्ञोपवीत में प्रयोग न करना चाहिए।

(२) कपास न मिलने पर, गाय की पूंछ के बाल, सन, ऊन, कुश, रेशम आदि का भी यज्ञोपवीत बनाया जा सकता है पर सबसे उत्तम कपास का ही है।

(३) देवालय, नदी तीर, बगीचा, एकान्त, गुरु-गृह, गोशाला, पाठशाला अथवा अन्य पवित्र स्थान यज्ञोपवीत बनाने के लिए चुनना चाहिए। जहां तहां गंदे, दूषित, अशान्त वातावरण में वह न बनाया जाना चाहिए। और न बनाते समय अशुद्ध व्यक्तियों का स्पर्श होना चाहिए।

(४) बनाने वाला स्नान, संध्यावंदन करने के उपरान्त स्वच्छ वस्त्र धारण करके कार्य आरम्भ करे। जिस दिन यज्ञोपवीत बनाना हो उससे तीन दिन पूर्व से ब्रह्मचारी रहे और नित्य एक सहस्त्र गायत्री का जप करे। एक समय सात्विक अन्न अथवा फलाहार दुग्धाहार का आहार किया करे।

(५) चार उंगलियों को बराबर बराबर करके उन पर तीन तारों के ९६ चक्कर गिन ले। गंगाजल, तीर्थजल या किसी अन्य पवित्र जलाशय के जल से उस सूत का प्रच्छालन करे। तदुपरान्त तकली की सहायता से इन सम्मिलित तीन तारों को कातले। कत जाने पर उसे मोड़कर तीन लड़ों में पेंठ लें। ९६ चप्पे गिनते तथा तकली पर कातते समय मन ही मन गायत्री मंत्र का जप करें और तीन लड़ पेंठते समय—(आपोहिष्ठा मयो भवः) मन्त्र से मानसिक जप करे।

(६) कते और इँठे हुए डोरे को तीन चक्करों में विभाजित करके ग्रन्थि लगावे, आरम्भ में तीन गाठें और अन्त में एक गांठ लगाई जाती है। कहीं कहीं अपने गोत्र के जितने प्रवर होते हैं उतनी ग्रंथियां लगाते हैं और अंत में अपने वर्ण के अनुसार ब्रह्म ग्रन्थि, क्षत्रिय ग्रंथि या वैश्य ग्रन्थि लगाते हैं। ग्रंथियां लगाते समय (त्र्यम्बकम् यजामहे) मन्त्र का मन ही मन जप करना चाहिए। ग्रन्थि लगाते समय मुख पूर्व की ओर रखना चाहिए।

(७) यज्ञोपवीत धारण करते समय यह मन्त्र पढ़ना चाहिए।

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्रयं प्रति मुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥

(८) यज्ञोपवीत उतारते समय यह मन्त्र पढ़ना चाहिए—

एतावद् दिन पर्यन्तं ब्रह्म त्वं धारितं मया ।
जीर्णत्वात्त्वत्परित्यागो गच्छ सूत्र यथा सुखम् ॥

(९) जन्म सूतक, मरण सूतक, चाण्डाल स्पर्श, मुर्दे का स्पर्श, मल-मूत्र त्यागते समय कान पर यज्ञोपवीत चढ़ाने में भूल होने के प्रायश्चित्य में उपाकर्म से, चार मास पुराना होजाने पर, कहीं से टूट जाने पर जनेऊ उतार देना चाहिए। उतारने पर उसे जहां तहां नहीं फेंक देना चाहिए वरन् किसी पवित्र स्थान पर नदी, तालाब देवस्थान पीपल, गूलर, बड़, छोंकर जैसे पवित्र वृक्ष पर विसर्जित करना चाहिए।

(१०) बाएं कंधे पर इस प्रकार धारण करना चाहिए कि बाएं पार्श्व की ओर न रहे। लम्बाई इतनी होनी चाहिए कि हाथ लम्बा करने पर उसकी लम्बाई बराबर बैठे।

(११) ब्राह्मण पदाधिकारी बालक का उपवीत ५ से ८ वर्ष तक की आयु में, क्षत्रिय का ६ से ११ तक, वैश्य का ८ से १२ वर्ष तक की आयु में यज्ञोपवीत कर देना चाहिए। यदि ब्राह्मण का १६ वर्ष तक, क्षत्रिय का २२ वर्ष तक वैश्य का २४ वर्ष तक उपवीत न हो तो वह "सावित्री पतित" होजाता है। तीन दिन उपवास करते हुए पंच गव्य पीने से सावित्री पतित मनुष्य प्रायश्चित्य करके शुद्ध होता है।

(१२) ब्राह्मण का वसन्त ऋतु में, क्षत्री का ग्रीष्म में और वैश्य का उपवीत शरद ऋतु में होना चाहिए। पर जो "सावित्री पतित" है अर्थात् निर्धारित आयु से अधिक का होगया है उसका कभी भी उपवीत कर देना चाहिए।

(१३) ब्रह्मचारी को एक तथा गृहस्थ को दो जनेऊ धारण करने चाहिए। क्योंकि गृहस्थ पर अपना तथा धर्मपत्नी दोनों का उत्तर दायित्व होता है।

(१४) यज्ञोपवीत की शुद्धि नित्य करनी चाहिए नमक, क्षार, साबुन रीठा आदि की सहायता से जल द्वारा उसे भली प्रकार रगड़ कर नित्य स्वच्छ करना चाहिए ताकि पसीना का स्पर्श होते रहने से जो नित्य ही मैल भरता रहता है वह साफ होता रहे और दुर्गन्ध, अथवा जुंऐं आदि जमने की संभावना न रहे।

(१५) मल, मूत्र त्याग करते समय अथवा मैथुन काल में यज्ञोपवीत कमर से ऊपर रखना चाहिए। इसलिए उसे कान पर चढ़ा लिया जाता है। कान की जड़ को मल-मूत्र त्यागते समय डोरे से बांध देने से बवासीर, भंगदर जैसे गुदा के रोग नहीं होते ऐसा भी कहा जाता है।

(१६) यज्ञोपवीत आदर्श वादी भारतीय की संस्कृति की मूर्तिमान्—प्रतिमा है, इसमें भारी तत्व ज्ञान और मनुष्य को देवता बनाने वाला तत्वज्ञान भरा हुआ है इसलिए इसे धारण करने की परिपाटी का अधिक से अधिक विस्तार करना चाहिए। चाहे लोग उस रहस्य को समझने तथा आचरण करने में समर्थ न हों तो भी इसलिए उस का धारण करना आवश्यक है कि बीज होगा तो अवसर मिलने पर उग भी आवेगा।

न होने से कुछ होना अच्छा है ।

यज्ञोपवीत के संबंध में कई प्रकार के भ्रम जन साधारण में प्रचलित है, उनके संबंध में कुछ बातों का स्पष्टी करण कर लेना आवश्यक है । कई व्यक्ति सोचते हैं कि यज्ञोपवीत हम से सधेगा नहीं, हम उसके नियमों का पालन नहीं कर सकेंगे इसलिए हमें उसे धारण नहीं करना चाहिए । यह तो ऐसी ही बात हुई जैसे कोई कहे कि मेरे मनमें ईश्वर की भक्ति नहीं है, इसलिए मैं पूजा पाठ न करूँगा । पूजा पाठ करने का तात्पर्य ही भक्ति उत्पन्न करना है, यदि भक्ति पहले से ही होती तो पूजा पाठ करने की आवश्यकता ही न रह जाती । यही बात जनेऊ के संबंध में है यदि धार्मिक नियमों का साधन अपने आप ही होजाय तो उसके धारण करने की आवश्यकता ही क्या है ? चूँकि आमतौर से नियम नहीं सधते इसीलिए तो यज्ञोपवीत का प्रतिबंध लगाकर उन नियमों को साधने का प्रयत्न किया जाता है । जो लोग नियम नहीं साध पाते उन्हीं के लिए सब से अधिक आवश्यकता जनेऊ धारण करने की है । जो बीमार है उसे ही तो दवा चाहिए यदि बीमार न होता तो दवा की आवश्यकता ही उसके लिए क्या थी ?

नियम क्यों साधने चाहिए इसके बारे में लोगों की बड़ी विचित्र मान्यताऐं हैं । कई आदमी समझते हैं कि भोजन संबंधी नियमों का पालन करना ही जनेऊ का नियम है, बिना स्नान किए, रास्ते का चला हुआ रात का बासा हुआ, अपनी जाति के अलावा किसी का बना हुआ भोजन न करना ही यज्ञोपवीत की साधना है । यह बड़ी अधूरी और

भ्रम पूर्ण धारणा है। यज्ञोपवीत का मन्तव्य मानव-जीवन की सर्वांग पूर्ण उन्नति करना है, उन मन्नतियों में स्वास्थ्य की उन्नति भी एक है और उनके लिए अन्य नियमों का पालन करने के साथ साथ भोजन संबंधी नियमों की साव-धानी रखना भी उचित है। इस दृष्टि से जनेऊ धारी के लिए भोजन संबंधी नियमों का पालन करना ठीक है परन्तु जिस प्रकार प्रत्येक द्विज जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति के सभी नियमों को पूर्णतया पालन नहीं कर पाता फिर भी कंधे पर जनेऊ धारण किये रहता है फिर भोजन संबंधी किसी नियम में यदि कुछ त्रुटि रह जाय तो यह नहीं समझना चाहिए कि इस त्रुटि के कारण जनेऊ धारण करने का अधिकार ही छिन जाता है। यदि झूठ बोलने से, दुराचार की दृष्टि रखने से बेईमानी करने से, आलस्य प्रमाद या व्यसनों में ग्रस्त रहने से जनेऊ नहीं टूटता तो केवल भोजन संबंधी नियमों में कभी कभी थोड़ा सा अपवाद आजाने से नियम टूट जायगा यह सोचना किस प्रकार उचित कहा जासकता है।

कई व्यक्ति सोचते हैं कि मलमूत्र त्यागते समय कान पर चढ़ाने की बारबार भूल हो जाती है इसलिए बारबार नये जनेऊ बदलने की आवश्यकता पड़ती है इस झंझट से बचने के लिए यही अच्छा है कि इसे पहना ही न जाय। यह विचार भी ठीक ऐसा ही है जैसा यह सोचना कि पाठ याद करने में बार बार भूल हो जाती है इसलिए इस झँझट से बचने के लिए यही अच्छा है कि पढ़ाई लिखाई बन्द करदी जाय। क्या ऐसा निर्णय बुद्धिमत्ता पूर्ण होगा? यदि नहीं तो फिर भूल के कारण यज्ञोपवीत त्यागने की बात सोचना ही कहां तक उचित कहा जा सकता है?

यह ठीक है कि मलमूत्र में त्याग में कान पर जनेऊ चढ़ाना आवश्यक है, और इस नियम का कठोरता से पालन होना चाहिए, पर यह भी ठीक है कि आरम्भ में इसकी आदत न पड़ जाने तक नौसिखियों को कुछ सुविधा भी मिलनी चाहिए जिससे कि वे उन्हें एक दिन में तीन तीन जनेऊ बदलने के लिए विवश न होना पड़े। इसके लिए ऐसा किया जा सकता है कि जनेऊ का एक फेरा गरदन में घुमा दिया जाय ऐसा करने से वह कमर से ऊंचा आजाता है। कान में चढ़ाने का प्रधान प्रयोजन यह है कि मलमूत्र की अशुद्धता का यज्ञ सूत्र से स्पर्श न हो, जब जनेऊ कंठ में लपेट दिये जाने से कमर से ऊंचा उठ आता है तो उससे अशुद्धता का स्पर्श होने की आशंका नहीं रहती। और यदि कभी कान में चढ़ाने की भूल भी हो जाय तो उसके बदलने की आवश्यकता नहीं होती। थोड़े दिनों में जब भली प्रकार आदत पड़ जाती है तो फिर कंठ में लपेटने की आवश्यकता नहीं रहती।

छोटी आयु के बालकों के लिए स्त्रियों के लिए तथा अन्य भुलक्कड़ व्यक्तियों के लिए तृतीयांश यज्ञोपवीत की व्यवस्था की जासकती है। पूरे यज्ञोपवीत की अपेक्षा एक दो तिहाई छोटा अर्थात् एक तिहाई लंबाई का तीन लड़ वाला उपवीत केवल कंठ में धारण कराया जा सकता है। इस प्रकार के उपवीत को आचार्यों ने "कंठी" शब्द से संबोधन किया है। छोटे बालकों का जब उपनयन होता था तब उन्हें दीक्षा के साथ कंठी पहनादी जाती थी। आज भी गुरु नाम धारी पंडितजी गले में कंठी पहना कर और कान में मन्त्र सुनाकर "गुरुदीक्षा" देते देखे जाते हैं।

इस प्रकार के अविकसित व्यक्ति उपवीत की नित्य सफाई का भी पूरा ध्यान रखने में प्रायः भूल करते हैं जिससे शरीर का पसीना उसमें रमता रहता है फलस्वरूप, बदबू, गंदगी मैल और रोग कीटाणु उसमें पलने लगते हैं। ऐसी स्थिति में यह सोचना पड़ता है कि कोई ऐसा उपाय निकल आवे जिससे कंठ में पड़ी हुई उपवीती कंठी का शरीर से कम स्पर्श हो। इस निमित्त तुलसी, रुद्राक्ष या किसी और पवित्र वस्तु के दानों में कंठी के सूत्रों को पिरो दिया जाता है फलस्वरूप वे दाने ही शरीर का स्पर्श कर पाते हैं सूत्र अलग रहा आता है और पसीने का जमाव होने एवं शुद्धि में प्रमाद होने के खतरे से बचत हो जाती है इसीलिए दाने वाली कंठियां पहनने का रिवाज चलाया गया।

आज कल नई फैशन से जेवरों का रिवाज कम होता जाता है फिर भी गले में कंठी माला किसी न किसी रूप में स्त्री पुरुष धारण करते हैं। गरीब स्त्रियां कांच के मनकों की कंठियां पहनती हैं, सम्पन्न घरों की स्त्रियां चांदी, सोने, मोती आदि की कंठिया धारण करती है। इन आभूषणों नाम हार, नैकलेस, जंजीर, माला आदि रखे गये है पर यह वास्तव में कंठियों के ही प्रकार हैं। चाहे स्त्रियों के पास कोई अन्य आभूषण हो चाहे न हो, परन्तु इतना निश्चित है कि कंठी को गरीब से गरीब स्त्रियां किसी न किसी रूप में अवश्य धारण करेंगी, इससे प्रकट है कि भारतीय नारियों ने अपने सहज धर्म प्रेम को किसी न किसी रूप में जीवित रखा है और उपवीत को किसी न किसी प्रकार धारण किया है।

जो लोग उपवीत धारण करने के अधिकारी नहीं कहे जाते, जिन्हें कोई दीक्षा नहीं देता वे भी गले में तीन

पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता।

शिक्षा के दो भेद हैं (१) जानकारी (२) अन्तर्निर्माण। जानकारी प्राप्त करने का काम साधारण पुस्तकों, समाचार पत्रों, चित्रों आदि की सहायता से तथा श्रवण, भ्रमण, अनुभव, पर्यवेक्षण इत्यादि के आधार पर हो सकता है। स्कूली पढ़ाई से सांसारिक बहुत सी बातें मालूम हो जाती हैं भूगोल, इतिहास, गणित, साहित्य, शिल्प, रसायन, संगीत व्यापार, चिकित्सा, कानून, धर्म, दर्शन, कला-कौशल आदि शिक्षा के अनेकों माध्यम मौजूद हैं। सरकारी तथा गैर सरकारी शिक्षण केन्द्रों में जाकर इन सब बातों की जानकारी तथा प्रवीणता प्राप्त की जा सकती है। इन जानकारियों को प्राप्त करने वाला धन, पद तथा यश से सम्पन्न हो सकता है। शिक्षा का प्रथम भेद 'जानकारी' सुलभ है। उसके लाभ भी प्रत्यक्ष हैं इसलिए अधिकांश व्यक्ति इस दिशा में अपनी ज्ञान वृद्धि करते हैं और सुशिक्षित तथा विद्वान् कहलाते हैं।

शिक्षा का दूसरा भेद है। अन्तः निर्माण इस विज्ञान द्वारा मनुष्य अपने आपे के संबंध में ज्ञान प्राप्त करता है। मैं क्या हूं ? सूक्ष्म से स्थूल क्यों हुआ हूं ? इस शरीर को किस प्रयोजन के लिए धारण किए हुए हूं ? जीवन का लक्ष क्या है ? सर्वोत्तम स्वार्थ क्या है ? वर्तमान कार्य-क्रम में कितना उचित, कितना अनुचित सम्मिलित किया हुआ है ? क्या कर्तव्य और क्या अकर्तव्य है ? इस प्रकार का दार्शनिक ज्ञान अन्तः निर्माण विद्या का आवश्यक अंश है। इस जानकारी को प्राप्त कर लेने से मनुष्य अपने मानसिक जगत की रचना से परिचित हो जाता है। मन की दौड़, कल्पनाओं की उड़ान, वासनाओं की लालसा, प्रलोभनों का आकर्षण, इन्द्रियों की रस-

कता, व्यसनों की मादकता, आलस्य, प्रमाद और अज्ञान का अन्धकार, कर्मनिष्ठा से जीवन में सुख-शान्ति की स्थिरता, संयम, अपरिग्रहता और उदारता की विभूतियां, जैसे रहस्यों का परिशीलन करने से वह उन गुप्त तथ्यों से परिचित हो जाता है जिनके ऊपर यह बात पूर्णतया निर्भर है कि हम गरीब होते हुए भी सुखी रहें अथवा अमीर होते हुए भी दीन-दरिद्रियों की भांति नाना प्रकार के क्लेशों से संतप्त रहें।

सांसारिक जानकारी और अन्तःनिर्माण विद्या दोनों ही अत्यन्त महत्व पूर्ण हैं। साथ ही असाधारण रूप से आपस में सम्बद्ध हैं। जैसे गाड़ी के दो पहिए होते हैं वैसे ही शिक्षा के दो अंश हैं। दो हाथ, दो पाँव, दो नेत्र, रात-दिन, सूर्य-चन्द्र, जल-थल, नर-मादा, सर्दी-गर्मी का जिस प्रकार जोड़ा है उसी प्रकार शिक्षा का भी जोड़ा है। जो व्यक्ति सांसारिक एवं व्यावहारिक आवश्यकताओं का समुचित ज्ञान रखता है और साथ ही अपनी आन्तरिक वस्तुस्थिति से परिचित है और तदनुसार अपनी मनोवृत्तियों को काबू में रख कर उन्हें उचित दिशा में मोड़ने की क्षमता रखता है वही सच्चे अर्थों में शिक्षित कहलाने योग्य है। जैसे रुपये के दो पहलू होते हैं उसी प्रकार शिक्षा के भी दो भाग हैं। यदि रुपये के एक ओर तो अक्षर छपे हैं और दूसरी ओर सफाचट हो तो उस रुपये की उपयोगिता सिद्ध न होगी, इसी प्रकार यदि केवल सांसारिक चतुरता ही किसी व्यक्ति ने सीखी हो और आत्म विज्ञान से अपरिचित हो तो उसकी विद्या अधूरी है। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य अध्यात्म विज्ञान का ज्ञाता हो और रोटी कमाने तथा शऊर के साथ

समझ कर घृणा करते हैं या अनुपयोगी समझ कर उपेक्षा करते हैं। दूसरी ओर जिनकी रुचि आत्म-विद्या की ओर है वे व्यावहारिक ज्ञान को माया, बन्धन, स्वप्न, जंजाल आदि कह कर उससे दूर रहने में ही अपना कल्याण समझते हैं। भगवान् कृष्ण ने अपना उदाहरण उपस्थित कर के इस विभिन्नता को मिटाया था। उनके जीवन, विचार और कार्यों का सूक्ष्म निरीक्षण करने वाला इस बात को भली प्रकार समझ सकता है कि एक व्यक्ति पूर्ण योगी और पूर्ण व्यवहार कुशल साथ-साथ हो सकता है। भगवान् कृष्ण के अवतार लेने के जहां अन्य कारण थे वहां यह भी एक कारण था कि वे व्यवहारवाद और आत्मवाद का विरोधाभास मिटाकर समन्वय करने आये थे, अपना उदाहरण उपस्थित करके उन्होंने बताया कि योग और कर्म का समन्वय ही सर्वश्रेष्ठ जीवन प्रणाली कहा जा सकता है।

मनुष्य की प्रकृति स्वभावतः सांसारिक लाभों की ओर होती है इसलिए साधारणतः उसकी रुचि सांसारिक शिक्षा प्राप्त करने की होती है। इसी के लिए वह गुरु और शिक्षक चुनता है। आत्म विद्या से चाहे वस्तुतः अनन्त, एवं महानतम लाभ भले ही प्राप्त होते हों पर प्रत्यक्षतः हाथों-हाथ कोई लाभ नहीं दीखता, इसलिए उस ओर प्रायः अरुचि और उपेक्षा रहती है। यह अरुचि और उपेक्षा जीवनोद्देश्य को ही नष्ट कर डालती है इसलिए भारतीय धर्म के आचार्यों ने यह आवश्यक समझा कि इस दिशा में कठोर नियंत्रण रखा जाय। उन्होंने आदेश किया कि आत्म-विद्या का शिक्षक अवश्य ही नियुक्त होना चाहिए जो गुरु या आचार्य के नाम से पुकारा जाय, माता-पिता के साथ ही गुरु का नाम जोड़ा

गया है। जैसे किसी के पिता का पता न होना एक बड़े भारी अपमान की बात है वैसे ही भारतीय संस्कृति में यह भी एक भारी अपमान जनक गाली है कि किसी को बिना गुरू का "निगुरा" कहा जाय। गुरु दीक्षा की अनिवार्यता वैसी ही है जैसी यज्ञोपवीत धारण की। इसलिए इन दोनों को एक साथ जोड़ दिया गया है। जो यज्ञोपवीत देने वाला वही गुरु अथवा जो गुरु हो वही यज्ञोपवीत दे। चूँकि यज्ञोपवीत के छोटे से प्रतीक में समस्त अध्यात्म-ज्ञान, वेद शास्त्रों का सारांश भरा हुआ है इसलिए जो यज्ञोपवीत देता है वह उसमें छिपे हुए महा विज्ञान को भी बताता है इसलिए अध्यात्म की शिक्षा उपवीत संस्कार के साथ आरंभ होती है। कंधे पर पड़ा हुआ जनेऊ इस गुरू की दी हुई 'वेदत्रयी' है, इसको चौबीसों घंटे साथ रखा जाता है और हर घड़ी पढ़ने, मनन एवं चिन्तन करने की सुविधा शिष्य को प्राप्त होती है।

आत्म निर्माण का कार्य किसी विद्वान्, सूक्ष्मदर्शी तत्वज्ञानी, नीतिमान, सच्चरित्र एवं दूरदर्शी व्यक्ति द्वारा ही हो सकता है। ऐसे गुण वाले को शास्त्रों में "आचार्य" शब्द से संबोधित किया गया है। यों पुस्तकों और ग्रन्थों में बहुत से उपदेश भरे हुए हैं, कथा, व्याख्यान, सत्संग प्रवचन आदि द्वारा भी ऐसी बातें अक्सर सुनने को मिलती रहती हैं, पर इन सब के द्वारा इतना ठोस प्रभाव नहीं पड़ सकता जिससे जीवन दिशा में भारी परिवर्तन हो जाय। यह कार्य उन दो व्यक्तियों द्वारा हो सकता है जो आपस में अत्यन्त घनिष्ट-सूत्र से आत्मीयता के बंधन में बंधे हों और वह बंधन श्रद्धा, प्रेम, निस्वार्थता एवं परमार्थ के आधार पर अवलंबित

हो। ऐसा रिश्ता एक मात्र गुरु शिष्य के बीच में ही हो सकता है। यों पत्नी, संतान, तथा मित्रों में भी लोगों की घनिष्टता रहती है, पर वह घनिष्ठता ऐसी नहीं होती जिसका आधार सांसारिक स्वार्थपरता से अधिक ऊँचा हो, इसलिए आत्म-निर्माण का कष्ट साध्य कठिन कार्य उपरोक्त गुण वाले आचार्य द्वारा ही हो सकता है।

आचार्य अपने व्यक्तिगत गुणों के कारण अपनी वाणी में इतना बल, वजन, तर्क, तथ्य, प्रमाण और प्रभाव रखता है जिससे शिष्य का अन्तःकरण उसके आगे प्रभावित हो जाय। दूसरी ओर शिष्य के मन में आचार्य के प्रति श्रद्धा, भक्ति, आस्था, विश्वास, भावना, धर्म-भीरुता होती है। जिससे उसका मन एक प्रकार से इतना नरम हो जाता है जिस पर उसकी छाप आसानी से पड़ सके। जब दोनों ओर से इस प्रकार झड़ मिल जाती है जो निश्चित उद्देश्य में प्रगति होने लगती है। पुर्जों की झड़ जब तक आपस में नहीं मिलती तब तक मशीन ठीक प्रकार नहीं चलती, पर जब खांचा ठीक फिट बैठ जाता है तो मशीन की गति बड़ी तेज और नरम हो हो जाती है। गुरु शिष्य का रिश्ता कायम होना, दो ऐसे व्यक्तियों की झड़ मिलना है जिनके आन्तरिक मिलन से 'आत्म-निर्माण, कार्य की प्रगति तेजी से आगे बढ़ने लगती है।

इसके अतिरिक्त आचार्य की नियुक्ति के और भी कई लाभ हैं। मनुष्य अपने संबंध में ठीक प्रकार सोचने में प्रायः असमर्थ रहता है। वैद्य अपना इलाज आप नहीं कर सकता, क्योंकि अपने बारे में ठीक २ निर्णय करने में उसकी बुद्धि समर्थ नहीं होती। आंखें अपने आप अपने को नहीं देख

रहता है। इसलिए किसी ऐसे विवाह की भी आवश्यकता पड़ती है जो इन दोनों तुच्छ कारणों से मुक्त हो और धार्मिक श्रद्धा एवं सात्विक प्रेम से सुसज्जित हो। यों ऐसा प्रेम दाम्पत्ति जीवन में भी एक दूसरे के प्रति होना संभव है पर उसमें परीक्षा की कसौटी न रहने से यह खतरा बना रहता है कि- कहीं वासनाजन्य भौतिक तन्मयता को ही आत्मिक मिलन न समझ बैठा जाय। गुरु शिष्य के बीच जो संबंध कायम होता है वह इस प्रकार के खतरे से खाली है। इन दोनों के बीच जितना प्रेम बढ़ेगा उसका आधार सात्विक ही होगा! यह सात्विक प्रेम ही ईश्वर प्राप्ति में सहायक होता है। वासनाजन्य प्रेम अस्थायी और निचले दर्जे का होता है, उसके द्वारा ईश्वर तक पहुंचने की सिद्धि नहीं मिल सकती। परम सात्विक, श्रद्धा, भक्ति, निस्वार्थता और धर्म भावना से परिपूर्ण प्रेम द्वारा ही परमात्मा को प्राप्त किया जाता है। प्रभु प्राप्ति के अमोघ सत्य को उपलब्ध करने का अभ्यास गुरु-भक्ति द्वारा किया जाता है। छोटे तालाब में तैरना सीख कर तब बड़े नदी नद पार करना संभव होता है। गुरु के ऊपर सात्विक प्रेम का अभ्यास बढ़ा कर तब उस बढ़ी हुई भक्ति से ईश्वर को प्राप्त किया जाता है।

गुरु दीक्षा एक प्रकार का अध्यात्मिक विवाह है, जिसमें दो व्यक्ति एक पवित्र उत्तर-दायित्व को ओढ़ते हैं। गुरु अपने ऊपर उत्तर-दायित्व लेता है कि शिष्य की आत्मा को ऊँचा उठाने में कोई कसर न रखूँगा। शिष्य अपने ऊपर उत्तर दायित्व लेता है कि गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा रखता हुआ उनसे प्रकाश प्राप्त करूँगा। विवाह और दीक्षा में यद्यपि भौतिक दृष्टि से बहुत अन्तर है पर आध्यात्मिक दृष्टि से उसमें

विशेष अन्तर नहीं है। दो आत्माएँ जीवन भर के लिए पूरी ईमानदारी से एक दूसरे की उन्नति और सहायता का व्रत लेती हैं यही दीक्षा कहलाती है। पति-पत्नी के बीच होने वाले प्रतिज्ञा बन्धन को 'विवाह' गुरु शिष्य के बीच होने वाले प्रतिज्ञा बंधन को 'दीक्षा', और मित्र-मित्र के बीच होने वाले प्रतिज्ञा बन्धन को "मैत्री—या पगड़ी पलटना" कहते हैं। इस प्रकार के व्रत बन्ध के पश्चात् अधिक जिम्मेदारी से कर्तव्य पालन के भाव दृढ़ होते हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि शिष्य के पाप-पुण्यों का दसवां भाग गुरु को भी मिलता है। कारण स्पष्ट है कि शिष्य के निर्माण में गुरु का भारी उत्तर-दायित्व होने के कारण उसके पाप पुण्यों में उसे भागीदार बना देता है। यही बात, पति-पत्नी, और मित्र-मित्र में भी होती है। सम्मिलित उत्तर-दायित्व के कारण एक की कीर्ति-अपकीर्ति में दूसरा स्वयमेव भागीदार हो जाता है।

मनुष्य के मन में अनेकों गुप्त बातें रहती हैं। परन्तु उसके मन और चित्त की बनावट इस प्रकार की है कि जितनी ही अधिक गुप्त बातें उसके भीतर जमा होती जाती हैं उतना ही उसका मानस-लोक दूषित होता जाता है। हर एक में ऐसी शक्ति नहीं कि वह गुप्त बातों को बहुत समय तक अपने भीतर भरे रहने पर भी स्वस्थ बना रहे। आंख में कूड़े-करकट का एक छोटा टुकड़ा पड़ जाय तो आंख अस्वस्थ हो जाती है। पेट में कोई धातु का टुकड़ा या विष पहुंच जाय तो जब तक वह निकल नहीं जाय तब तक चैन नहीं लेने देता, इसी प्रकार गुप्त बातें मन में भरे रहने वाले कपटी या पेट के मैले कहलाते हैं। देखा गया है कि उनका शरीर और मन इस मैल के कारण अशान्त और विकार ग्रस्त बना रहता

है। इस विषमस्थिति से छुटकारा पाने के लिए यह आवश्यक है कि हमें ऐसा कोई रहस्य पेट में न छिपाये रहें जो किसी पर प्रकट न हो। परन्तु अपने भेदों को सब पर प्रकट करना एक खतरा है जिसे उठाने का हर किसी को साहस नहीं होता। लोगों से अक्सर दुष्कर्म होते रहते हैं। चोरी, व्यभिचार, पाखंड, शेखीखोरी, छल, विश्वासघात आदि के अनेकों बुरे काम लोग आये दिन किया करते हैं जिनको यदि प्रकट कर दिया जाय तो उनकी प्रतिष्ठा नष्ट होती है, निन्दा का भागी बनना पड़ता है, समाज से बहिष्कृत होना पड़ता है, राज दंड भोगना पड़ता है आर्थिक क्षति उठानी पड़ती है और ग्राहकों, साथियों तथा सहयोगियों के सहयोग से हाथ धोना पड़ता है। यदि किसी खास आदमी से वे बातें कह कर अपना मन हलका किया जाय तो भी यह भय लगा करता है कि कभी वह दूसरों पर प्रकट न कर दें अथवा स्वयं ही घृणा न करने लगे। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए कई बातें घनिष्ट मित्रों से भी नहीं कहीं जातीं और खास तौर से वे बातें तो प्रकट की ही नहीं जा सकती जो उन मित्रों के विरुद्ध पड़ती हों या उन्हें रुष्ट करती हों। यह रहस्य-वाद जितना ही पेट में पड़ा सड़ता रहता है उतना ही मानस भूमि को दूषित करता रहता है और उसके फल स्वरूप अनेकों प्रकार के शारीरिक, मानसिक और भौतिक रोग बढ़ते रहते हैं।

इस विषम स्थिति से बचने के लिए गुरु की नियुक्ति बड़ी ही लाभदायक है। गुरु अत्यन्त उदार, सहनशील, क्षमावान और शिष्य की निर्बल मनोभूमि का ज्ञाता होता है इस लिए वह उसके दोषों को सहानुभूति पूर्वक सुनता है, उसका

निदान करता है और सद्य चिकित्सा चालू कर देता है। चूँकि वह सच्चा हितू है इस लिए शिष्य की सामाजिक स्थिति बिगाड़ने के लिए उन बातों को असमय में प्रकाशन करना आवश्यक नहीं समझता। ऐसी दशा में शिष्य अपने मन में अटकी पड़ी सभी रहस्य-ग्रन्थियों को खोल कर रख सकता है और मन के भार से हलका होकर अनेक प्रकार की अस्वस्थ-ताओं से छुटकारा पा सकता है।

इस प्रकार के अनेकों कारण हैं जिनसे गुरु की नियुक्ति आवश्यक अनुभव करके हमारे ऋषियों ने प्रत्येक व्यक्ति के लिए माता-पिता के समान ही गुरु की अनिवार्यता का प्रति-पादन किया है। पर आज तो बड़े भद्दे और सड़े-गले रूप में इस परम्परा को पूरा किया जा रहा है। नाम मात्र के पढ़े हुए, अन्धविश्वासी अविवेकी, मानव प्रकृति से अनभिज्ञ, धर्म मन्तव्यों के सूक्ष्म तत्व-ज्ञान से अपरिचित, ऐसे व्यक्ति गुरु बनने का दुस्साहस करते हैं जिनमें लोभ, अहंकार, व्यसन, आलस्य, प्रमाद, स्वार्थपरता की भावनाएँ कूट २ कर भरी हैं जो न लोक सेवा में रुचि रखते हैं और न जिनमें दूसरों के आत्म निर्माण करने की क्षमता है। वे भोले भाले लोगों की धर्मश्रद्धा का, गुरु परम्परा के मूल्य का, अनुचित लाभ उठा कर अपने लिए एक प्रकार का खेत तैयार करते हैं जिनसे सदा ही कुछ वसूल करते रहा जाय। जिजमान उनकी खेती हैं जिन्हें फसल की फसल दुहते रहते हैं। चेले भी ऐसे ही हैं वे किसी भी औंधे सीधे आदमी से कंठी बंधवा कर, कान फुंकवा कर अपनी गुरु श्रद्धा को पूरा करते हैं। ऐसे गुरु शिष्य व्यर्थ ही एक लकीर को पीटते हैं, इसमें उन्हें कुछ लाभ होने वाला नहीं है।

यज्ञोपवीत से द्विजत्व की प्राप्तिकी विवेचना करते हुए बताया जा चुका है कि-पहला जन्म माता के पेट से होता है और दूसरा जन्म आचार्य द्वारा दिया जाता है। आचार्य अपने शिष्य की मनोभूमि को साफ करता है, उसमें बीज बोता है, संस्कारों को स्थापित करता है, उन्हें सींचता है, सुधारता है, रखवाली करता है और इन प्रयत्नों द्वारा शिष्य को कुछ से कुछ बना देता है। पहले की जंगली भूमि, कुछ दिन बाद सुरम्य उपवन बन जाती है। वैसे वह एक ही वस्तु है, पर पहले और पीछे के रूपों में भारी अन्तर हो जाने के कारण इसे 'कायाकल्प, या दूसरा जन्म भी कहा जा सकता है। असंस्कृत, जन्म जन्मान्तरों के पाशविक संस्कारों से युक्त मनो-भूमि का देवी सम्पत्तियों से सुसज्जित हो जाना भी मानसिक काया--कल्प है, इसे दूसरा जन्म कह सकते हैं। यही द्विजत्व है। माता के स्तनों से दूध पीकर बालक का शरीर बढ़ता है, आचार्य की आत्मा का रस पीकर शिष्य का अन्तःकरण विकसित होता है। चिड़ियां अपने अंडे को अपनी छाती के नीचे रख कर 'सेती' हैं। उसे अपनी गर्मी से पकाती हैं और अंडे से बच्चा निकालती हैं। आचार्य भी अपने शिष्य को आत्म तेज की गर्मी से उष्णता प्रदान करता है, उस पर छाती देकर बैठता है और अन्त में पशुता का अंडा-खोलकर, फोड़ कर, उसमें से सच्चा मनुष्य निकालता है। इस प्रकार आचार्य द्वारा जन्म दिए हुए मनुष्य को द्विज कहते हैं। जन्म से सभी शूद्र होते हैं पर संस्कार से द्विज बन जाते हैं।

प्राचीन काल में गुरु की नियुक्ति को ऐसा ही आवश्यक समझा जाता था जैसा कि विवाह। अच्छी पत्नी पाकर जैसे युवक को, और अच्छा पति पाकर जैसे युवती को,

प्रसन्नता होती है वैसीही प्रसन्नता अच्छा गुरु पाकर भी होती है। कारण यह है कि गुरु भी वैसा ही साथी है जैसा कि स्त्री-पुरुष आपस में होते हैं। एक जोड़ा सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति में महत्व रखता है तो दूसरा जोड़ा आत्म विकाश के लिए अनिवार्य है। पर आज तो सर्वत्र ही अव्यवस्था और अन्धकार छाया हुआ है जैसे दाम्पति सहवास के आनन्द में अनेकों नकली, झूठे, हानिकारक एवं अनैतिक उपकरण प्राप्त होते हैं, व्यभिचार की पद्धतियां प्रचलित हैं वैसे ही गुरु-शिष्य के पवित्र संबंधों में भी धूर्तता, मूर्खता, अनैतिकता और अविवेक का साम्राज्य छाया हुआ है। किसी समय गरीबों से लेकर अमीरों तक और प्रजा जनों से लेकर राजकुमारों तक ऋषियों के आश्रमों में शिक्षा प्राप्त करने जाते थे और अपने २ क्षेत्र के उपयुक्त योग्यताएं लेकर वापिस लौटते थे। पर आज तो साधु-सन्यासी, पंडित पुरोहित, गुरु, महात्मा आदि जन्तुओं को देखने से ही लोगों के मनों में भय पैदा होता है। क्योंकि उनकी विचार-धारा भावना तथा क्रिया प्रणाली तीनों ही ऐसी होती हैं जिनके संपर्क में आने वाले को हानि उठानी पड़ती है। लोग अपने बच्चों को उनके पास नहीं जाने देते कि हमारा लड़का इन लोगों की संगति में बैठ कर कहीं निकम्मा, निठल्ला, गैर जिम्मेदार, भिखारी, व्यसनी, आलसी, प्रमादी, आवारा, न बन जाय। उनका भय अकारण नहीं है, अनेकों उदाहरणों के आधार पर उन्हें इस प्रकार की मान्यता बनाने को विवश होना पड़ा है।

आज प्रामाणिक विश्वस्त, विवेकशील और क्रिया कुशल ऐसे पथ-प्रदर्शकों का बड़ा अभाव है जो जन साधारण

को आत्मिक उन्नति की ओर अग्रसर करके उन्हें सब प्रकार सुख शान्ति का जीवन व्यतीत करने में सहायता दें। ऐसे प्रकाशवान आचार्यों की सचमुच ही भारी कमी है जो अपनी आन्तरिक ज्योति से दूसरों के अंतरात्मा को प्रकाशित कर दें, फिर भी खोज करने से अभीष्ट वस्तु मिल ही जाता है। ईश्वर की इस वैभवशाली सृष्टि में किसी वस्तु का बीज नाश नहीं होता। परमात्मा ने एक स्थान पर प्रतिज्ञा की है कि सच्चे खोजी को निराश न होना पड़ेगा।

कितने ही व्यक्ति ऐसा सोचते हैं कि जब अमुक समय एक व्यक्ति को गुरु बना चुके अब हमें दूसरे पथ प्रदर्शक की नियुक्ति करने का अधिकार नहीं रहा। उनका यह सोचना वैसा ही है जैसे कोई विद्यार्थी यह कहे कि अक्षर प्रारम्भ करते समय जिस अध्यापक को मैंने अध्यापक माना था अब जीवन भर उसके अतिरिक्त न तो किसी से शिक्षा ग्रहण करूँगा और न किसी को अध्यापक मानूँगा। एक ही अध्यापक से संसार के सभी विषयों के ज्ञान होने की आशा नहीं की जा सकती। फिर यदि वह अध्यापक मर जाय, रोगी हो जाय कहीं चला जाय तो भी दूसरे से शिक्षा लेने का आग्रह करना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है? फिर ऐसा भी हो सकता है कि कोई व्यक्ति प्राथमिक गुरु की अपेक्षा कहीं अधिक आत्मोन्नति कर जाय और उसकी जिज्ञासा बहुत विस्तृत हो जाय। ऐसी दशा में भी उसकी जिज्ञासाओं का समाधान उस प्राथमिक शिक्षक द्वारा ही कराने का आग्रह किया जाय तो यह किस प्रकार संभव है? प्राचीन काल के इतिहास पर दृष्टिपात करने से इस उलझन का समाधान हो जाता है। महर्षि दत्तात्रय ने चौबीस गुरु-वरण किये थे,

राम और लक्ष्मण ने जहां वशिष्ठ से शिक्षा पाई थी वहां विश्वामित्र से भी बहुत कुछ सीखा था, वैसे ही उनके गुरु थे। श्रीकृष्ण जी ने संदीपन ऋषि से विद्याएँ पढ़ीं पर महर्षि दुर्वासा भी उनके गुरु थे। अर्जुन के गुरु द्रोणाचार्य भी थे और कृष्ण भी। इन्द्र के गुरु बृहस्पति भी थे और नारद भी। इस प्रकार अनेकों उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिनसे प्रकट होता है कि आवश्यकतानुसार एक गुरु अनेक शिष्यों की सेवा कर सकता है और एक शिष्य अनेकों गुरुओं से ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसमें कोई ऐसा प्रतिबन्ध नहीं है जिसके कारण एक के रहते हुए किसी दूसरे से प्रकाश प्राप्त करने में प्रतिबन्ध हो। अब भी एक व्यक्ति के कई पुरोहित होते हैं। जन्म पुरोहित, तीर्थ पुरोहित, कुल पुरोहित, राज पुरोहित, शिक्षा पुरोहित, दीक्षा पुरोहित। जिससे यज्ञोपवीत लिया है, जीवन विद्या सीखी है, आत्म निर्माण के लिये प्रकाश प्राप्त किया है, वह बड़ा पुरोहित है। यह सभी पुरोहित अपने अपने क्षेत्र अवसर और कार्य में पूछने योग्य तथा पूजने योग्य हैं। यह एक दूसरे का विरोधी नहीं वरन् पूरक होते हैं।

यज्ञोपवीत धारण करने वालो! इस महान् अनुष्ठान में शायद अकेले ही सब कुछ कर लेना तुम्हारे लिए कठिन हो सकता है। इसलिए एक पथ प्रदर्शक नियुक्त करो। ऐसा पथ प्रदर्शक—जो अपने महान् पद के अनुकूल योग्यताएँ रखता हो और तुम्हारे जीवन निर्माण में समुचित सहायता दे सके। यह नियुक्ति तुम्हारा बोझा और हल्का करेगी। आज ऐसे पथप्रदर्शक मिलना कठिन आवश्यक है पर असम्भव नहीं, निकट नहीं तो दूर, ढूँढो! ढूँढने वाले को अभीष्ट वस्तु मिल जाती है।

उपवीत और गायत्री का युग्म

यज्ञोपवीत को 'ब्रह्मसूत्र' भी कहा जाता है। सूत्र डोरे को भी कहते हैं और उस संक्षिप्त शब्द रचना को भी जिसका अर्थ बहुत विस्तृत होता है। व्याकरण, दर्शन, धर्म, कर्मकाण्ड आदि के अनेकों ऐसे ग्रन्थ हैं जिसमें ग्रन्थ कर्ताओं ने अपने मन्तव्यों को बहुत ही संक्षिप्त संस्कृत वाक्यों में सन्निहित कर दिया है। उन सूत्रों पर लम्बी-लम्बी वृत्तियां, टिप्पणियं तथा टीकाएँ हुई हैं जिनके द्वारा उन सूत्रों में छिपे हुए अर्थों का विस्तार होता है। ब्रह्मसूत्र में यद्यपि अक्षर नहीं है तो भी संकेतों से बहुत कुछ बताया गया है। मूर्तियां, चिन्ह, चित्र, अवशेष आदि के आधार पर बड़ी २ महत्व पूर्ण जानकारियां प्राप्त होती हैं। यद्यपि इनमें अक्षर नहीं होते तो भी वे बहुत कुछ प्रकट करने में समर्थ हैं। इशारा करने से एक मनुष्य अपने मनोभाव दूसरे पर प्रकट कर देता है। भले ही उस इशारे में किसी शब्द का या लिपि का प्रयोग नहीं किया जाता। यज्ञोपवीत के ब्रह्मसूत्र यद्यपि वाणी और लिपि से-रहित हैं तो भी उनमें एक विशद् व्याख्यान की अभिभावना भरी हुई है।

गायत्री को गुरु मंत्र कहा जाता है। यज्ञोपवीत धारण करते समय जो वेदारंभ कराया जाता है वह गायत्री से कराया जाता है। प्रत्येक द्विज को गायत्री जानना उसी प्रकार अनिवार्य है जैसे कि यज्ञोपवीत धारण करना। यह गायत्री यज्ञोपवीत का जोड़ा ऐसा ही है जैसा लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधे-श्याम, प्रकृति-ब्रह्म, गौरी-शंकर, नर-मादा का जोड़ा है। दोनों का सम्मिश्रण से ही एक पूर्ण इकाई

प्रचोदयात्
योनः
धियो
धीमहि
देवस्य
भर्गो
स्वः
भुवः
भूः
ॐ
तत्
सवितुः
वरेण्यं
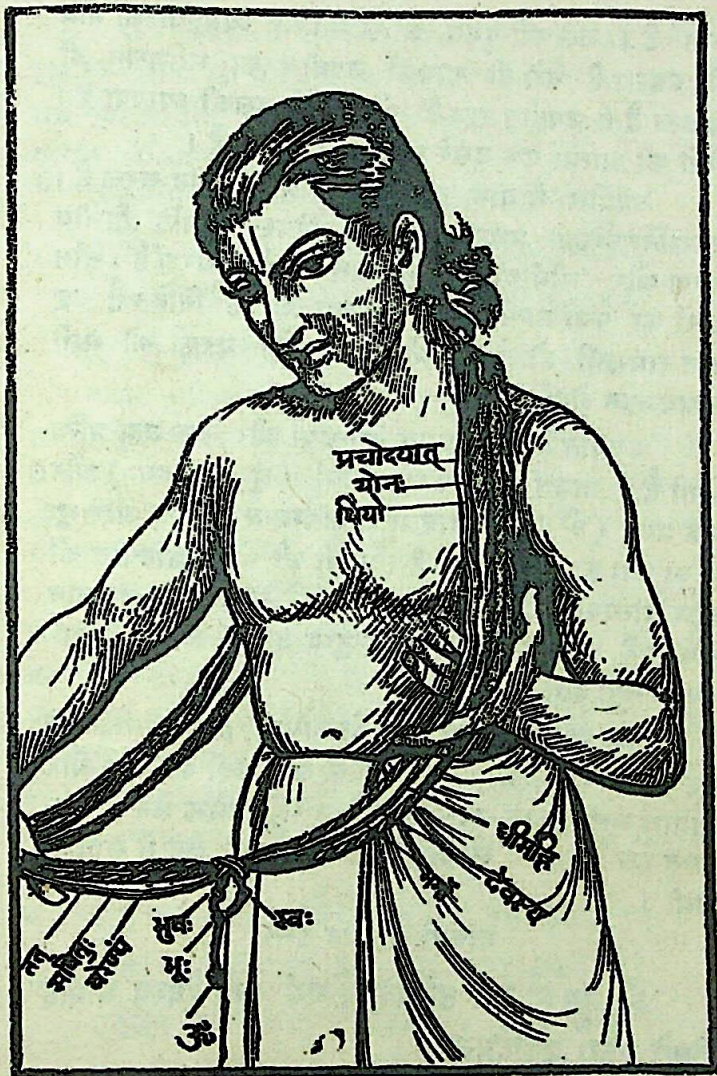
बनता है। जैसे स्त्री-पुरुष की सम्मिलित व्यवस्था का नाम ही ग्रहस्थ है वैसे ही गायत्री उपवीत का सम्मिलन ही द्विजत्व है। उपवीत सूत्र है तो गायत्री उसकी व्याख्या है। दोनों की आत्मा एक दूसरे के [illegible] है।

उपवीत में तीन तार [illegible] गायत्री में तीन चरण है। 'तत्सतितुर्वरेण्यं' प्रथम चरण, 'भर्गोदेवस्य धीमहि' द्वितीय चरण और 'धीयोयो नः प्रचोदयात्' तृतीय चरण है। तीन तारों का क्या तात्पर्य है, उनमें क्या सन्देश निहित है यह बात समझनी हो तो गायत्री के इन तीन चरणों को भली प्रकार जान लेना चाहिए।

उपवीत में तीन प्रथम ग्रन्थियां और एक ब्रह्म ग्रन्थि होती है। गायत्री में तीन व्याहृतियां (भूः भुवः स्वः) और एक प्रणव (ॐ) है। गायत्री के प्रारम्भ में ॐ कार और भूः भुवः स्वः का [illegible] है। इसी की ओर यज्ञोपवीत की तीन ग्रन्थियां संकेत करती हैं। उन्हें समझने वाला जान सकता है कि [illegible] मनुष्य जाति के लिए क्या-क्या सन्देश देता है।

यज्ञोपवीत के [illegible] को गायत्री द्वारा समझने से पूर्व यह आवश्यक है कि गायत्री के सब शब्दों का अर्थ और भावार्थ भली प्रकार समझ लिया जाए। उसको समझ लेने के उपरान्त इस [illegible] सारांश [illegible] लेने में सुविधा होगी।

गायत्री मन्त्र यह है—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्।

नीचे गायत्री के प्रत्येक पद का अर्थ दिया जाता है। इस १२ श्लोकों की परिभाषा को गायत्री गीता भी कहते हैं। अब गायत्री गीता और उसके अर्थों को ध्यान पूर्वक अवलोकन कीजिए—

ॐ—ओमित्येव सुनामध्येयमनघं विश्वात्मनो ब्रह्मणः।
सर्वेष्वेव हितस्य नामसु वसोरेतत्प्रधानं मतम्॥
यं वेदा निगदन्ति न्याय निरतं श्रीसच्चिदानन्दकम्।
लोकेशं समदर्शिनं नियमिनं चाकार हीनं प्रभुम्॥

अर्थ—जिसको वेद न्यायकारी, सच्चिदानन्द, सर्वेश्वर, समदर्शी, नियामक, प्रभु और निराकार कहते हैं, जो विश्व में आत्मा रूप से व्यापक है। उस ब्रह्म के समस्त नामों में श्रेष्ठ नाम पाप रहित पवित्र और ध्यान करने योग्य ॐ यह ही मुख्य नाम माना गया है।

भावार्थ—परमात्मा को प्राप्त करने और प्रसन्न करने का मार्ग उसके नियमों पर चलना है। वह निन्दा स्तुति से प्रभावित नहीं होता, वरन् कर्मों के अनुसार फल देता है। परमात्मा को सर्वत्र व्यापक समझ कर गुप्त रूप से भी पाप न करना चाहिए। प्राणियों की सेवा करना परमात्मा की ही पूजा है। परमात्मा को अपने अन्तर में अनुभव करने से आत्मा पवित्र होता है और सत्, चैतन्यता तथा आनन्द की अनुभूति होती है।

भूः—भूर्वै प्राण इति ब्रुवन्ति मुनयो वेदान्त पारंगताः।
प्राणः सर्व विचेतनेषु प्रसृतः सामान्य रूपेण च॥
एतेनैव विसिद्धयते हि सकलं नूनं समानं जगत्।
द्रष्टव्यं सकलेषु जन्तुषु जनैर्नित्यं ह्यतश्चात्मवत्॥

अर्थ—मुनि लोग प्राण को भूः कहते हैं। यह प्राण समस्त प्राणियों में समान रूप से फैला हुआ है। इससे सिद्ध है कि यहां सब समान है। अतएव सब मनुष्यों और प्राणियों को अपने समान ही देखना चाहिए।

भावार्थ—अपने समान सबको कष्ट होता है इसलिए किसी को सताना न चाहिए। दूसरों से वही व्यवहार करना चाहिए जो हम दूसरों से अपने लिए चाहते हैं। सब में समत्व की दृष्टि रखनी चाहिए। कुल, वंश, देश, जाति, समुदाय, स्त्री-पुरुष आदि विभागों के कारण किसी को नीच ऊंच छोटा बड़ा नहीं समझना चाहिए। उच्चता और नीचता का कारण तो भले बुरे कर्म ही हो सकते हैं।

भुवः—भुवर्नाशो लोके सकलविपदां वै निगदितः।
कृतं कार्यं कर्तव्यमिति मनसा चास्य करणम्॥
फलाशा मत्वा ये विदधति न वै कर्म निरताः।
लभन्ते नित्यं ते जगति हि प्रसादं सुमनसाम्॥

अर्थ—संसार में समस्त दुखों का नाश ही भुवः कहलाता है। कर्तव्य भावना से किया गया कार्य ही 'कर्म' कहलाता है। परिणाम के सुख की अभिलाषा छोड़कर जो कर्म करते हैं वे मनुष्य सदा प्रसन्न रहते हैं।

भावार्थ—मनुष्य का अधिकार कर्म करना है, फल देने वाला ईश्वर है। अमुक वस्तु प्राप्त होने पर ही सुख माना जाय, ऐसा सोचने की बजाय ऐसा सोचना चाहिए कि कर्तव्य पालन ही हमारे लिए आनन्द का सर्वोत्तम केन्द्र है। जो अपने कर्तव्य कर्मको ही अपना लक्ष्य मान लेता है वह कर्मयोगी हर समय सुखी रहता है, जो इच्छित फल की आशा के

लिए लटका रहता है उस तृष्णावान् को सदा बेचैनी रहती है और अनेक बार निराश एवं दुखी होना पड़ता है । सदुद्देश्य के लिए मनुष्य को सदा सत्कर्म करते रहना चाहिए । गीता के कर्म योग का यही तत्व है ।

स्वः—स्वरेपो वै शब्दो निगदति मनः स्थैर्य करणम् ।
तथा सौख्यं स्वास्थ्यं ह्यु पदिशति चित्तस्यचलतः ॥
निमग्नत्वं सत्यव्रत सरसि वा चदत उत ।
त्रिधां शान्तिह्यभिक्षु वि च लभते संयम रतः ॥

अर्थ—'स्वः' यह शब्द मन की स्थिरता का निर्देश करता है । चंचल मन को सुस्थिर और स्वस्थ रखो यह उपदेश देता है । सत्य में निमग्न रहो यह कहता है । इस उपाय से संयमी पुरुष तीनों प्रकार की शान्ति को प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ—अनिच्छित परिस्थिति प्राप्त होने पर प्रायः मनुष्य शोक, दुःख, क्रोध, द्वेष, दीनता, निराशा, चिन्ता, भय, बेचैनी आदि से उद्विग्न होकर अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं और अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर अहंकार, मद, उद्दंडता, खुशी में फूलकर अस्वाभाविक आचरण करना, इतराना, अपव्यय, शेखी, आदि से ग्रस्त हो जाते हैं । यह दोनों ही स्थितियां एक प्रकार के नशे या ज्वर हैं, यह विवेक को अन्धा कर देते हैं जिससे विचार और कार्यों की उचित श्रंखला नष्ट भ्रष्ट हो जाती है और आदमी अंधा तथा बावरा बन जाता है । इन सत्यानाशी तूफानों से आत्मा की रक्षा करने के लिए मन को स्थिर, संतुलित, स्वस्थ एवं वास्तविक बनाना चाहिए तभी मनुष्य को आत्मिक बौद्धिक तथा शारीरिक शान्ति मिल सकती है ।

तत्—ततोवै निष्पत्तिः स भुविमतिमान् पण्डितवरः।
विजानन् गुह्यं जीवन मरणयोर्यस्तु निखिलम् ॥
अनन्ते संसारे विचरति भयासक्ति रहितः।
तथा निर्माणं वै निज गति विधीना प्रकुरुते ॥

अर्थ--तत् शब्द यह बतलाता है कि—इस संसार में वही बुद्धिमान है जो जीवन मरण के रहस्य को जानता है। भय और आसक्ति रहित होकर जीता है और अपनी गति-विधियों का निर्माण करता है।

भावार्थ--मृत्यु सदा सिर पर खड़ी नाचती रहती है, इस समय सांस चल रही है अगले ही क्षण बन्द होजाय इसका क्या ठिकाना है। यह सोचकर इस सुर दुर्लभ मानव जीवन का श्रेष्ठतम उपयोग करना चाहिए। और थोड़े जीवन में क्षणिक सुख के लिए पाप क्यों किये जांय? जिससे चिरकाल तक दुख भोगने पड़ें, ऐसा विचारना चाहिए।

यदि विद्याध्ययन, समाज सुधार, धर्मप्रचार आदि श्रेष्ठ कार्य करने हों तो ऐसा सोचना चाहिये कि जीवन अखंड है। यदि इस शरीर से यह कार्य पूरा न हो सका तो अगले में पूरा करेंगे। यह निर्विवाद है कि जो इस जीवन का सदुपयोग कर रहा है उसे मृत्यु के पश्चात् भी आनन्द ही मिलेगा, परलोक पुनर्जन्म आदि में सुख ही प्राप्त होगा पर जो इन जीवन क्षणों का दुरुपयोग कर रहा है उसका भविष्य अन्धकार मय है। इसलिए जो बीत चुका उसके लिए दुख न करते हुए शेष जीवन का सदुपयोग करना चाहिए।

सवितु—सवितुस्तु पदं वितनोति ध्रुवं,
मनुजोऽवलवान् सवितेवभवेत् ।
विषया अनुभूति परिस्थितय,
श्च सदात्मन एवं गणेदति सः॥

अर्थ—सवितुः यह पद बतलाता है कि मनुष्य को सूर्य के समान बलवान होना चाहिए। और सभी विषय अनुभूतियां अपने आत्मा से ही संबंधित हैं ऐसा विचारना चाहिए।

भावार्थ—सूर्य को वीर्य और पृथ्वी को रज कहा जाता है। सूर्य की शक्ति से संसार की सब क्रियाऐं होती हैं। इसी प्रकार आत्मा अपनी क्रिया शीलता द्वारा विविधि प्रकार की परिस्थितियां उत्पन्न करता है। प्रारब्ध, भाग्य, दैव आदि भी अपने प्राचीन कर्मों का ही परिपाक मात्र है। इसलिए अपने लिए जैसी परिस्थिति अच्छी लगती है उसी के योग्य अपने को बनाना चाहिए। अपना भाग्य निर्माण करना हर मनुष्य के अपने हाथ में है। इसलिए आत्मनिर्माण की ओर ही सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए। बाहर की सहायता भी अपनी अन्तरंग स्थिति के अनुकूल ही मिलती है।

मनुष्य को तेजस्वी बलवान, पुरुषार्थी बनना चाहिए। स्वास्थ्य, विद्या, धन, चतुरता, संगठन, यश, साहस और सत्य, इन आठ बलों से अपने को सदैव बलवान बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि कि बलवान मनुष्य ही आत्मोन्नति, दूसरों की सेवा तथा न्याय की रक्षा कर सकता है।

वरेण्यं—वरेण्यञ्चैतद्धै प्रकटयति श्रेष्ठत्वमनिशम् ।
सदा पश्येच्छ्रेष्ठं मननमपि श्रेष्ठस्य विदधेत् ॥
तथा लोके श्रेष्ठं सरलमनसा कर्म च भजेत् ।
तदेत्थं श्रेष्ठत्वं व्रजति मनुजः शोभित गुणैः ॥

अर्थ—वरेण्य, यह शब्द प्रकट करता है कि प्रत्येक मनुष्य को नित्य श्रेष्ठता की ओर बढ़ना चाहिए। श्रेष्ठ देखना, श्रेष्ठ चिन्तन करना, श्रेष्ठ विचारना श्रेष्ठ कार्य करना, इस प्रकार मनुष्य श्रेष्ठता को प्राप्त होता है।

भावार्थ—मनुष्य वैसा ही बनता है जैसे कि उसके विचार होते हैं। विचार सांचा है और जीवन गीली मिट्टी! जैसे विचारों में हम डूबे रहते हैं हमारा जीवन उसी ढांचे में ढल जाता है, वैसे ही आचरण होने लगते हैं वैसे ही साथी मिलते हैं, उसी दिशा में जानकारी रुचि तथा प्रेरणा मिलती है। इसलिए यदि अपने को श्रेष्ठ बनाना है तो सदा श्रेष्ठ मनुष्यों के संपर्क में रहना, श्रेष्ठ पुस्तकें पढ़ना, श्रेष्ठ बातें सोचना, श्रेष्ठ घटनाएं देखना, श्रेष्ठ कार्य करना आवश्यक है। दूसरों में जो श्रेष्ठताएं हैं उनकी कद्र करना और उन्हें अपनाना, श्रेष्ठता में श्रद्धा रखना यह सब बातें उन लोगों के लिए बहुत आवश्यक है जो अपने को श्रेष्ठ बनाना चाहते हैं।

भर्गो—भर्गोयेतिपदं च व्याहरति वै लोकः सुलोको भवेत् ।
पापे पाप विनाशने त्वभिरतो दत्तावधानो वसेत् ॥
दृष्ट्वा दुष्कृतिदुर्विपाक निचयं तेभ्यो जुगुप्सेद्धि च ।
तन्नाशाय विधीयतां च सततं संघर्षमेभिःसहः ॥

अर्थ—भर्गः यह पद बताता है कि मनुष्यों को निष्पाप

बनना चाहिए। पापों से सावधान रहना चाहिए। पापों के दुष्परिणामों को देखकर उनसे घृणा करें और निरन्तर उनको नष्ट करने के लिए संघर्ष करना चाहिए।

भावार्थ—संसार में जितने दुख हैं पापों के कारण हैं। अस्पतालों में, जेलखानों में तथा अन्यत्र नाना प्रकार के अन्य कष्टों से पीड़ित मनुष्य अब के या पुराने पापों से ही दुःख भोगते हैं। नरक में भी पापी ही त्रास पाते हैं। सन्त और परोपकारी पुरुष दूसरों के पापों का बोझ अपने सिर पर लेकर दुःख उठाते हैं और उन्हें शुद्ध करते हैं। चाहे दूसरों का दुःख कोई सन्त सहे चाहे पापी स्वयं सहे। हर हालत में दुखों का कारण पाप ही है। इसलिए जिन्हें दुःख का भय है और सुख की इच्छा है उन्हें चाहिए कि पापों से बचें, दूसरों को बचावें और भूतकाल के पापों के लिए प्रायश्चित्त करें। पापों से सावधान रहना और उन्हें भीतर बाहर से नष्ट करने के लिए संघर्ष करना यह बहुत बड़ा पुण्य कार्य है। क्योंकि इससे अगणित प्राणी दुःखों से छुटकारा पाकर सुखी बन गये हैं। निष्पापता में ही सच्चे आनन्द का निवास है।

देवस्य—देवस्येति तुर्याक्षरोत्थमरतां मर्त्योऽपि संप्राप्यते।
देवानामिव शुद्ध दृष्टि करणात् सेवोपचाराद्भुवः॥
निःस्वार्थं परमार्थकर्म करणात् दीनाय दानात्तथा।
बाह्याभ्यन्तरमस्य देवभुवनं संसृज्यते चैवहि॥

अर्थ—देवस्य यह पद बतलाता है कि मरणधर्मा मनुष्य भी अमरता अर्थात् देवत्व को प्राप्त हो सकता है। देवताओं के समान शुद्ध दृष्टि रखने से, प्राणियों की सेवा करने से, परमार्थ कर्म करने से, निर्बलों की सहायता करने में मनुष्य के भीतर और बाहर देवलोक की सृष्टि होती है।

भावार्थ—परमात्मा की बनाई हुई इस पवित्र सृष्टि से जो कुछ है पवित्र और आनन्दमय ही है। इस दृष्टि से संसार को प्रसन्नता की दृष्टि से देखना, उसमें मनुष्यों द्वारा उत्पन्न की गई बुराइयों को दूर करना और ईश्वरीय श्रेष्ठताओं को विकसित करना, प्रचलित करना, देव कर्म है। इस देव दृष्टि को धारण करने से मनुष्य देवता बन सकता है। जो अपने को शरीर न समझ कर आत्मा अनुभव करता है वह अमर है, उसके पास से मृत्यु का भय दूर चला जाता है। प्राणियों को प्रेम और आत्मीयता की पवित्र दृष्टि से देखना, अपने आचरणों को पवित्र रखना, अपने से निर्बलों को ऊँचा उठाने के लिए अपनी शक्तियों का दान करना यह देवत्व है। इन गुणों वाले के लिए यह भूलोक भी देवलोक के समान आनन्द मय बन जाता है।

धीमहि—धीमहि सर्वविधं हृदये शुचि,
शक्तिचयं वयमित्युपदिश्य वा।
नो मनुजोलभते सुखशान्ति,
मनेन विनेति वदन्ति हि वेदाः ॥

अर्थ—हम सब लोग हृदय में सब प्रकार की पवित्र शक्तियों को धारण करें। वेद कहते हैं कि इसके बिना मनुष्य सुख शान्ति को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—संसार में भौतिक शक्तियाँ अनेक हैं। धन, पद, वैभव, राज्य, शरीर बल, संगठन, शास्त्र, विद्या, बुद्धि, चतुरता, कोई विशेष योग्यता आदि के बल पर लोग ऐश्वर्य और प्रशंसा प्राप्त कर लेते हैं पर यह अस्थायी होती हैं। इनसे सुख मिल सकता है और वह छोटे मोटे आघात में ही

नष्ट भी हो सकता है। स्थायी सुख आध्यात्मिक पवित्र गुणों में है जिन्हें 'दैवी संपदाएँ' या 'दिव्य शक्तियां, भी कहते हैं। निर्भयता, विवेक, स्थिरता, उदारता, संयम, परमार्थ, स्वाध्याय, तपश्चर्या, दया, सत्य, अहिंसा, नम्रता, धैर्य, अद्रोह, प्रेम, न्यायशीलता, निरालस्य, आदि दैवी गुणों के कारण जो सुख मिलता है उसकी तुलना किसी भी भौतिक सम्पदा से नहीं हो सकती इसलिए अपना दैवी सम्पदाओं का कोष बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए।

धियो--धियोवोन्मथ्याच्छागमनिगम मंत्रान् सुमतिवान् ।
विजानीयात्तत्वं विमल नवनीतं परमिव ॥
यतोऽस्मिन् लोके वै संशयगत विचार स्थलशते।
मतिः शुद्धै वाञ्छा प्रकटयति सत्यं सुमन से ॥

अर्थ—बुद्धिमान को चाहिए कि वह वेद शास्त्रों को बुद्धि से मथ कर मक्खन के समान उत्कृष्टतत्व को जाने। क्योंकि शुद्ध बुद्धि से ही सत्य को जाना जाता है।

भावार्थ--संसार में अनेक विचार धाराऐं हैं, उनमें से अनेकों आपस में टकराती भी हैं। एक शास्त्र के सिद्धान्त दूसरे शास्त्र के विपरीत भी बैठते हैं, इसी प्रकार एक विद्वान् या ऋषि के विचार दूसरे विद्वान् या ऋषि के विचारों से पूर्णतया मेल नहीं खाते। ऐसी स्थिति में विचलित न होना चाहिए। देश, काल, पात्र और परिस्थिति के अनुसार जो बात एक समय बिलकुल ठीक होती है वही भिन्न परिस्थिति में गलत भी हो सकती है। जाड़े के दिनों में जो कपड़े लाभदायक होते हैं उनसे गर्मी में काम नहीं चल सकता, इसी प्रकार एक परिस्थिति में जो बात उचित है वह दूसरी

परिस्थिति में अनुचित हो जाती है। इसलिए किसी ऋषि, विद्वान्, नेता या शास्त्र की निन्दा न करते हुए हमें उनमें से वही तत्व लेने चाहिए जो आज की स्थिति के अनुकूल है। इस उचित अनुचित का निर्णय, तर्क, विवेक और न्याय के आधार पर वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए।

'योनः'—योनोवास्ति तु शक्तिसाधनचयो न्यूनाऽधिकश्चाथवा
भागं नूनतमं हितस्य विदधेमात्मप्रसादाय वै ॥
तत्पश्चादवशिष्ट भागमखिलं त्यक्त्वा फलाशांहृदि ।
तदधीनेष्वभिलापवस्तु वितरेमांगीपुनिस्त्वं वयम् ॥

अर्थ—हमारी जो भी शक्तियां एवं साधन हैं चाहे वे न्यून हों अथवा अधिक हों उनके न्यून से न्यून भाग को अपनी आवश्यकता के लिए प्रयोग में लावें। शेष को निस्वार्थ भाव से उन्हें अशक्त व्यक्तियों में बांट दें।

भावार्थ--भगवान ने मनुष्य को ज्ञान, बल तथा वैभव एक अमानत के रूप में इसलिए दिया है कि इन विभूतियों से सुसज्जित होकर अपने को मान, यश, सुख तथा पुण्य का श्रेय प्राप्त करें, परन्तु इनका लाभ अधिक से अधिक मात्रा में दूसरों को उठाने दें। अपने ऐश, आराम, भोग, संचय या अहंकार की पूर्ति में इनका उपयोग नहीं होना चाहिए। वरन् लोक हित के लिए अपने से निबलों की सहायता के लिए इनका उपयोग किया जाना चाहिए। विद्वान्, बलवान या धनवान का गौरव इसी बात में है कि उनके द्वारा कम ज्ञान वालों को, निर्बलों को, निर्धनों को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया जाय। जैसे वृक्ष, कूप, तड़ाग, उपवन, पुरुष, अग्नि,

जल, वायु, बिजली आदि श्रेष्ठ समझे जाने वाले पदार्थ अपनी महान् शक्तियों को लोक-हित के लिए सदैव वितरित करते रहते हैं वैसे ही हमें भी अपनी शक्तियों का जीवन निर्वाह मात्र भाग अपने लिए रखकर शेष को जनहित के लिए समर्पित कर देना चाहिए।

प्रचोदयात्– प्रचोदयात् स्वं त्वितरांश्च मानवान्,
नरः प्रयाणाय च सत्य वर्त्मनि।
कृतं हि कर्माखिलमित्थ मंगिना,
विपश्चितैर्धर्म इति प्रचक्षते॥

अर्थ—मनुष्य अपने आपको तथा दूसरों को सत्य मार्ग पर चलाने के लिए प्रेरणा दे। इस प्रकार किए हुए सब कामों को विद्वान् लोग धर्म कहते हैं।

भावार्थ—प्रेरणा संसार की सबसे बड़ी शक्ति है। इसके बिना सारी साधन सामग्री बेकार है चाहे वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो। प्रेरणा से उत्साहित और प्रवृत्त हुआ मनुष्य यदि कार्य आरम्भ कर देता है तो साधन अपने आप जुटा लेता है, उसे ईश्वरीय सहायताएं मिलती हैं और अनेक सहयोगी प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए अपने आपको सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरणा तथा प्रोत्साहन देना चाहिए तथा दूसरों को उत्तमता की दिशा में अग्रसर करने के लिए उन्हें प्रेरित करना चाहिए। वस्तुएं देकर किसी का उतना उपकार नहीं किया जा सकता जितना कि उसे प्रेरणा देकर उन्नत या समृद्ध बनाया जा सकता है। सत्कार्य के लिए प्रेरणा देना, इतना बड़ा पुण्य कार्य है कि उसकी तुलना में छोटी मोटी पुण्य क्रियाएँ बहुत ही तुच्छ बैठती हैं।

गायत्री गीता के उपरोक्त मंत्रार्थों पर विचार करने के पश्चात् हम इस महाविज्ञान को सरलता पूर्वक हृदयंगम करने के लिए चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। १–प्रणव तथा तीनों व्याहृतियां अर्थात् यज्ञोपवीत की चारों ग्रथियां, २–गायत्री का प्रथम चरण अर्थात् यज्ञोपवीत की प्रथम लड़, ३–द्वितिय चरण अर्थात् द्वितिय लड़, ४–तृतीय चरण अर्थात् तृतीय लड़। आइए, अब इन पर विचार करें—

१—प्रणव तथा व्याहृतियों का तात्पर्य उपरोक्त अर्थ के अनुसार यह है–परमात्मा सर्वत्र समस्त प्राणियों में समाया हुआ है, इसलिए लोक सेवा के लिए निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए और अपने मन को स्थिर तथा शान्त रखें।

२—शरीर अस्थायी औज़ार मात्र है इसलिए उस पर अत्यधिक आसक्त न होकर आत्मबल बढ़ाने का, श्रेष्ठ मार्ग का, सत्कर्मों का, आश्रय ग्रहण करना चाहिए।

३—पापों के विरुद्ध रहने वाला मनुष्य, देवत्व को प्राप्त करता है। जो पवित्र आदर्शों और साधनों को अपनाता है वही बुद्धिमान है।

४—विवेक द्वारा शुद्ध बुद्धि से सत्य को जानने, संयम और त्याग की नीति का आचरण करने के लिए अपने को तथा दूसरों को प्रेरणा देनी चाहिए।

यह चतुर्मुखी नीति यज्ञोपवीत धारी की होती है। इस सबका सारांश यह है कि—उचित मार्ग से अपनी शक्तियों को बढ़ाओ और अन्तःकरण को उदार रखते हुए अपनी शक्तियों का अधिकांश भाग जनहित के लिए लगाये रहो। इसी कल्याणकारी नीति पर चलने से मनुष्य व्यष्टि रूपसे तथा समस्त संसारमें समिष्टि रूप से सुख शान्ति प्राप्त

कर सकता है। यज्ञोपवीत और गायत्री के इस सन्देश के अतिरिक्त और कोई मार्ग ऐसा नहीं जिससे वैयक्तिक तथा सामाजिक सुख शान्ति स्थिर रह सके। हे द्विजो ! इसी मार्ग पर चलो, गायत्री और उपवीत का आश्रय ग्रहण करो, स्वयं आनन्द से जियो और दूसरों को चैन से जीने दो।

भूलोक का कल्पवृक्ष यज्ञोपवीत।

सुरलोक में एक ऐसा कल्पवृक्ष है जिसके नीचे बैठ कर जिस वस्तु की कामना की जाय वही वस्तु तुरन्त सामने उपस्थित हो जाती है। जो भी इच्छा की जाय तुरन्त पूर्ण हो जाती है। वह कल्पवृक्ष जिन के पास होगा वे कितने सुखी और संतुष्ट होंगे इसकी कल्पना सहज ही की जासकती है।

पृथ्वी पर भी एक ऐसा कल्प वृक्ष है, जिसमें सुरलोक के कल्पवृक्ष की सभी संभावनाएँ छिपी हुई हैं। इसका नाम है—गायत्री। गायत्री मंत्र को स्थूल दृष्टि से देखा जाय तो वह चौबीस अक्षरों और नौ पदों की एक शब्द श्रृंखला मात्र है, परन्तु यदि गंभीरता पूर्वक अवलोकन किया जाय तो उसके प्रत्येक पद और अक्षर में ऐसे तत्वों का रहस्य छिपा हुआ मिलेगा जिनके द्वारा कल्पवृक्ष के समान ही समस्त इच्छाओं की पूर्ति हो सकती है।

इस पुस्तक में ४१वें पृष्ठ पर एक चित्र में बताया जा चुका है कि यज्ञोपवीत के नौ सूत्रों में गायत्री का एक एक पद किस प्रकार गुंथा हुआ है। 'गायत्री गीता' में नौ पदों का पृथक पृथक श्लोकों में भावार्थ भी बताया जा चुका है। इस भावार्थ का तात्पर्य नौ तथ्यों से है जो मानव जीवन को सब प्रकार सुख शान्ति से परिपूर्ण कर सकते हैं।

अगले पृष्ठ पर 'गायत्री कल्पवृक्ष' का चित्र दिया हुआ है। इसमें बताया गया है 'ॐ' ईश्वर, आस्तिकता ही भारतीय धर्म का मूल है। इससे आगे बढ़कर उसके तीन विभाग होते हैं-भूः भुवः स्वः। भूः का अर्थ है—आत्मज्ञान। भुवः का अर्थ है-कर्म योग। स्वः का तात्पर्य है—स्थिरता समाधि। इन तीन शाखाओं में से प्रत्येक में से तीन-तीन टहनियां निकलती है, उनमें से प्रत्येक के भी अपने-अपने तात्पर्य हैं। तत्—जीवन विज्ञान। सवितुः—शक्ति संचय। वरेण्यं-श्रेष्ठता। भर्गो-निर्मलता। देवस्य-दिव्य दृष्टि। धीमहि-सद्गुण। धियो-विवेक। योनः—संयम। प्रचोदयात्—सेवा। गायत्री हमारी मनोभूमि में इन्हीं बीजों को बोती है। फल-स्वरूप जो खेत उगता है वह कल्पवृक्ष से किसी भी प्रकार कम नहीं होता है।

ऐसा उल्लेख मिलता है कि कल्पवृक्ष के सब पत्ते रत्न जटिल हैं। ये रत्नों जैसे सुशोभित और बहुमूल्य होते हैं। गायत्री कल्पवृक्ष के उपरोक्त नौ पत्ते, निस्संदेह नौ रत्नों के समान मूल्यवान् और महत्व पूर्ण हैं। प्रत्येक पत्ता-प्रत्येक गुण-एक-एक रत्न से किसी भी प्रकार कम नहीं है। 'नौलखा हार' की जेवरों में बहुत प्रशंसा है। नौलाख रुपये की लागत से बना हुआ 'नौलखा हार' पहनने वाले अपने को बड़ा सौभाग्यशाली समझते थे। यदि गंभीर, तात्विक और दूर दृष्टि से देखा जाय तो यज्ञोपवीत भी नवरत्न जड़ित नौलखा हार से किसी भी प्रकार कम महत्व का नहीं है।

यज्ञोपवीत के नौ तार जिन नौ गुणों को धारण करने, अपनाने का आदेश करते हैं वे इतने महत्व पूर्ण हैं कि नौ रत्नों की तुलना में इन गुणों की ही महिमा अधिक है।

देवस्य
दिव्य दृष्टि
भर्गो
निर्मलता
धीमहि
सद्गुण
वरेण्यं
श्रेष्ठता
धियो
विवेक
सवितुः
शक्ति संचय
यो नः
संयम
भुवः
कर्म योग
भूः
स्वः
तत्
जीवनविज्ञान
प्रचोदयात्
सेवा
गायत्री कल्पवृक्ष
ॐ
भारतीय धर्म
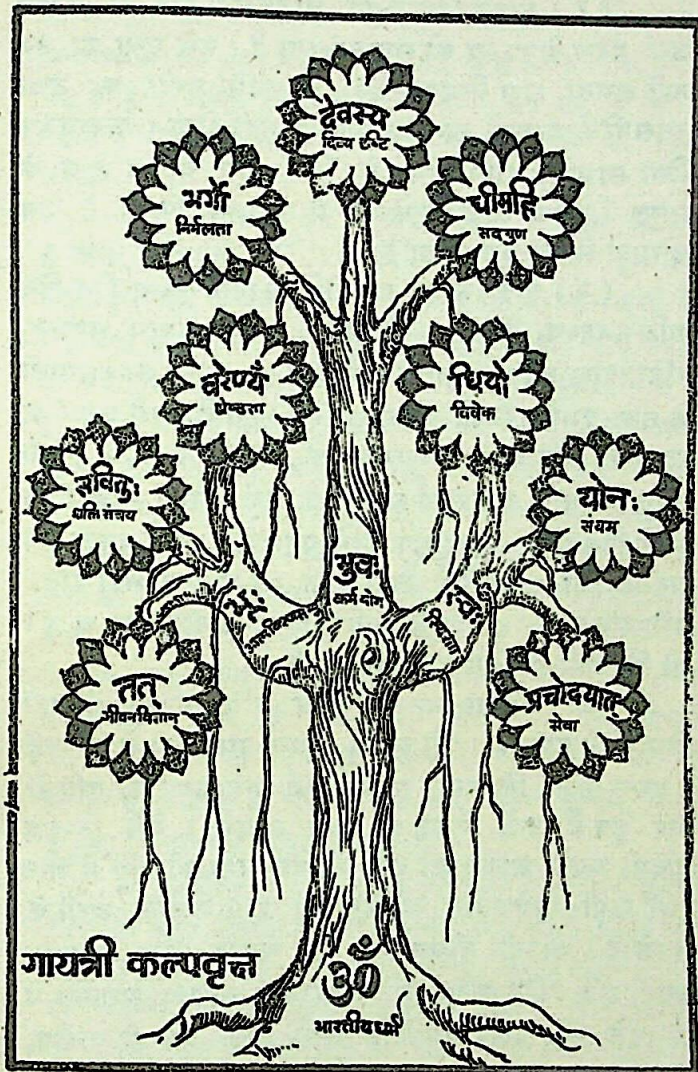
(१) जीवन विज्ञान-की जानकारी होने से मनुष्य जन्म मरण के रहस्य को समझ जाता है। उसे मृत्यु का डर नहीं लगता, सदा निर्भय रहता है, उसे शरीर का तथा सांसारिक वस्तुओं का लोभ मोह भी नहीं होता। फलस्वरूप जिन साधारण हानि लाभों के लिए लोग बेतरह दुख के समुद्र में डूबते, और हर्ष के मद में उछलते फिरते हैं उन उन्मादों से वह बच जाता है।

(२) शक्ति संचय-की नीति अपनाने वाला दिन-दिन अधिक स्वस्थ, विद्वान्, बुद्धिमान, धनी, सहयोग सम्पन्न, प्रतिष्ठावान् बनता जाता है। निर्बलों पर प्रकृति के, बलवानों के तथा दुर्भाग्य के जो आक्रमण होते रहते हैं उनसे वह बचा रहता है और शक्ति सम्पन्नता के कारण जीवन के नाना विधि आनन्दों को स्वयं भोगता है एवं अपनी शक्ति द्वारा दूसरे निर्बलों की सहायता करके पुण्य का भागी बनता है। अनीति वहीं पनपती है जहां शक्ति का संतुलन नहीं होता, शक्ति संचय का स्वाभाविक परिणाम है-अनीति का अन्त। जो कि सभी के लिए कल्याणकारी है।

(३) श्रेष्ठता-का अस्तित्व परिस्थितियों में नहीं विचारों में होता है। जो व्यक्ति साधन सम्पन्नता में बढ़े-बढ़े हैं परन्तु लक्ष, सिद्धान्त, आदर्श, एवं अन्तःकरण की दृष्टि से गिरे हुए हैं उन्हें निकृष्ट ही कहा जायगा। ऐसे निकृष्ट आदमी अपने आत्मा की दृष्टि में, परमात्मा की दृष्टि में और दूसरे सभी विवेकवान व्यक्तियों की दृष्टि में नीच श्रेणी के ठहरते हैं। अपनी नीचता के दंड स्वरूप आत्म ताड़ना, ईश्वरी दंड और बुद्धि भ्रम के कारण मानसिक अशान्ति में डूबे रहते हैं। इसके विपरीत कोई व्यक्ति भले ही गरीब,

साधन-हीन हो पर उसका आदर्श, सिद्धान्त, उद्देश्य, एवं अन्तःकरण उच्च तथा उदार है तो वह श्रेष्ठ ही कहा जायगा। यह श्रेष्ठता उसके लिए इतने आनन्द का उद्भव करती रहती है जो बड़ी से बड़ी सांसारिक संपदा से भी संभव नहीं।

(४) निर्मलता—का अर्थ है सौंदर्य। सौंदर्य वह वस्तु है जिसे मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी और कीट-पतंग तक पसंद करते हैं। यह निश्चित है कि कुरूपता का कारण—गंदगी है। मलीनता जहां भी होगा वहां कुरूपता रहेगा और वहां से दूर रहने की सबकी इच्छा होगी। शरीर के भीतर मल भरे होंगे—तो मनुष्य कमजोर और बीमार रहेगा। इसी प्रकार कपड़े, घर, भोजन, त्वचा, बाल, प्रयोजनीय पदार्थ, आदि में गंदगी होगी तो वह घृणास्पद, अस्वास्थ्य कर, निकृष्ट एवं निन्दनीय बन जावेंगे। मन में, बुद्धि में, अन्तःकरण में मलीनता हो तब तो कहना ही क्या है, इंसान का स्वरूप, हैवान और शैतान से भी बुरा हो जाता है। इन विकृतियों से बचने का एक मात्र उपाय 'सर्वतोमुखी निर्मलता' है। जो भीतर बाहर सब ओर से निर्मल है, जिसकी कमाई, विचार-धारा, देह, वाणी पोशाक, झोपड़ी, प्रयोजनीय सामिग्री निर्मल है, स्वच्छ है, शुद्ध है वह सब प्रकार सुन्दर, प्रसन्न, प्रफुल्ल, मृदुल एवं संतुष्ट दिखाई देगा।

(५) दिव्यदृष्टि—से देखने का अर्थ है संसार के दिव्य तत्वों के साथ अपना संबंध जोड़ना। हर पदार्थ अपने सजातीय पदार्थों को अपनी ओर खींचता है, और उन्हीं की ओर खुद खिचता है। जिसका दृष्टिकोण संसार की अच्छाइयों को देखने, समझने और अपनाने का है वह अपने चारों ओर

अच्छे व्यक्तियों को देखते हैं। लोगों के उपकार, भलमन-साहत, सेवाभाव, सहयोग और सत्कार्यों पर ध्यान देने से ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों में बुराइयों की अपेक्षा अच्छाइयां अधिक हैं और संसार हमारे साथ अपकार की अपेक्षा उपकार कहीं अधिक कर रहा है। आंखों पर जैसे रंग का चश्मा पहन लिया जाय वैसे ही रंग की सब वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं, जिनकी दृष्टि दूषित है उनके लिए प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक प्राणी बुरा है पर जो दिव्य दृष्टि वाले हैं वे प्रभु की इस परम पुनीत फुलवारी में सर्वत्र आनन्द ही आनन्द बरसता देखते हैं।

(६) सद्‌गुण-अपने में अच्छी आदतें, अच्छी योग्यतायें अच्छी विशेषतायें धारण करना सद्‌गुण कहलाता है। विनय, नम्रता, शिष्टाचार, मधुर भाषण, उदार व्यवहार, सेवा, सहयोग, ईमानदारी, परिश्रम शीलता, समय की पाबंदी, नियमितता, मितव्ययता, मर्यादित रहना, कर्तव्य परायणता, जागरूकता, प्रसन्नमुख मुद्रा, धैर्य, साहस, पराक्रम, पुरुषार्थ, आशा, उत्साह ये सब सद्‌गुण हैं। संगीत, साहित्य, कला, शिल्प, व्यापार, वक्तृता, व्यवसाय, उद्योग, शिक्षण आदि योग्यताएँ होना सद्‌गुण हैं। इस प्रकार के सद्‌गुण जिसके पास हैं, वह कितना आनन्दमय जीवन बितावेगा इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।

(७) विवेक-एक प्रकार का आत्मिक प्रकाश है, जिसके द्वारा सत्य-असत्य की, उचित-अनुचित की, आवश्यक अनावश्यक की, हानि-लाभ की, परीक्षा होती है। संसार में असंख्यों परस्पर विरोधी मान्यताएँ, रिवाजें, विचार धाराएँ, प्रचलित हैं और उनमें से हर एक के पीछे कुछ तर्क, कुछ

आधार, कुछ उदाहरण तथा कुछ पुस्तकों एवं महापुरुषों के नाम अवश्य संबद्ध होते हैं ऐसी दशा में यह निर्णय करना कठिन होता है कि इन परस्पर विरोधी बातों में क्या ग्राह्य है और क्या अग्राह्य ? इस संबंध में देश, काल, परिस्थिति, उपयोगिता, जनहित आदि बातोंको ध्यानमें रखते हुए सद्बुद्धि से जो निर्णय किया जाता है वही प्रामाणिक एवं ग्राह्य होता है। जिसने उचित निर्णय कर लिया तो समझिए कि उसने सरलता पूर्वक, सुख-शान्ति के 'लक्ष्य तक पहुंचने की सीधी राह पाली। संसार में अधिकांश कलह, क्लेश, पाप, एवं दुखों का कारण दुर्बुद्धि, भ्रम, तथा, अज्ञान' होता है। विवेकवान व्यक्ति इन सब उलझनों से अनायास ही बच जाता है।

(८) संयम—जीवनी शक्ति का, विचार शक्ति का, भोगेच्छा का, श्रम का, संतुलन ठीक रखना ही संयम है। न इनको घटने देना, न नष्ट-निष्क्रिय होने देना और न अनुचित मार्ग में व्यय होने देना, संयम का तात्पर्य है। मानव शरीर आश्चर्य जनक शक्तियों का केन्द्र है, यदि उन शक्तियों का अपव्यय रोक कर उपयोगी दिशा में लगाया जाय तो अनेक आश्चर्य जनक सफलताएं मिल सकती हैं और जीवन की प्रत्येक दिशा में उन्नति हो सकती है।

(९) सेवा-सहायता, सहयोग, प्रेरणा, उन्नति की ओर, सुविधा की ओर, किसी को बढ़ाना यह उसकी सब से बड़ी सेवा है। इस दिशा में हमारा शरीर और मस्तिष्क सब से अधिक हमारी सेवा का पात्र है क्योंकि वह हमारे सबसे अधिक निकट है। आमतौर से दान देना, समय देना या बिना मूल्य अपनी शारीरिक मानसिक शक्ति किसी को देना

सेवा कहा जाता है और यह अपेक्षा नहीं की जाती कि हमारे इस त्याग से दूसरों में कोई क्रिया-शक्ति, आत्मनिर्भरता, स्फूर्ति, प्रेरणा जागृत हुई या नहीं। इस प्रकार की सेवा दूसरों को आलसी, परावलम्बी और भाग्यवादी बनाने वाली हानिकर सेवा है। हम अपनी और दूसरों की इस प्रकार प्रेरक सेवा करें जो उत्साह, आत्मनिर्भरता और क्रियाशीलता को सतेज करने में सहायक हो। सेवा का फल है-उन्नति। सेवा द्वारा अपने को तथा दूसरों को समुन्नत बनाना, संसार को अधिक सुन्दर और आनन्दमय बनाने वाला महान् पुण्य कार्य है। इस प्रकार के सेवा भावी पुण्यात्मा सांसारिक और आत्मिक दृष्टि से सदा सुखी और संतुष्ट रहते हैं।

यह नवगुण निःसन्देह नवरत्न है। मोती, मूंगा, पन्ना पुखराज, हीरा, नीलम, गोमेद, वैडूर्य यह नौ रत्न कहे जाते हैं। कहते हैं कि जिनके पास यह रत्न होते हैं वे सर्व सुखी समझे जाते हैं। पर भारतीय धर्म शास्त्र कहता है कि जिनके पास यज्ञोपवीत और गायत्री मिश्रित उपरोक्त आध्यात्मिक नवरत्न हैं वे इस भूतल के कुबेर हैं। भले ही उनके पास धन. दौलत, जमीन, जायदाद न हो। यह नव रत्न मंडित कल्पवृक्ष, जिसके पास है, वह विवेक युक्त यज्ञोपवीत धारी सदा सुरलोक की संपदा भोगता है उसके लिए यह भूलोक ही स्वर्ग है, यह कल्पवृक्ष हमें चारों फल देता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की चारों सम्पदाओं से हमें परिपूर्ण कर देता है।

———

उपवीत धारण में विलम्ब क्यों ?

"वेश से भावना उत्पन्न होती है" यह सिद्धान्त सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित है। यदि किसी कायर पुरुष को फौजी कप्तान की पोशाक पहना दी जाय और उसे अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित कर दिया जाय तो उसकी यह वेश भूषा जब तक रहेगी तब तक वह वीरता की भावना से भरा रहेगा। राज्य के उच्च पदों पर आसीन व्यक्ति यद्यपि व्यक्तिगत रूप से साधारण से नागरिक मात्र हैं पर उस पद की सत्ता और गौरव के कारण अपने आपको कोई बहुत बड़ हस्ती समझते रहते हैं जब तक कि उस कुर्सी पर काम करते हैं। जब वे अपने पद के उत्तर दायित्व से अलग होकर कहीं दूर देश चले जाते हैं तब उनकी हस्ती सामान्य जनता जैसी हो जाती है। आप विचार कीजिए कि-कोई, साधु, महात्मा, पंडित, पुरोहित, कोई दुष्कर्म प्रत्यक्ष रूप से करने का साहस न करेगा क्योंकि उसे भय रहता है कि मेरा उज्वल वेश को ऐसी करने से अप्रतिष्ठा होगी, इसलिए यदि कोई बुरा काम उसे करना होता है तो लोगों की आंख बचाकर गुप्त रूप से करता है।

लड़कियां जब अपनी सुसराल में होती हैं तो उनका तर्ज तरीका बात चीत का ढंग वधू जैसा होता है, जब वे अपने पिता यहां आ जाती है तो लड़कियों की तरह अपना रवैया रखती हैं। स्थिति, वातावरण और वेश के अनुसार मनुष्य की विचार धारायें बनती हैं, इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता। यज्ञोपवीत को धारण करना ऐसा ही एक मनोवैज्ञानिक प्रयोजन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने

आपकी दृष्टि में तथा दूसरों की दृष्टि में सिद्धान्त वादी, आदर्श का अनुयायी, मनुष्यता का पुजारी, पशुता के बन्धनों से मुक्ति पाने का आकांक्षी तथा सन्मार्ग का पथचारी बनता है। कंधे पर रखा हुआ ब्रह्मसूत्र इस बात का साक्षी है, घोषणा पत्र है, प्रतीक है कि यह व्यक्ति मनुष्यता के महान उत्तर दायित्वों से अनभिज्ञ नहीं है और न उस ओर उपेक्षा एवं अकर्मण्यता धारण किये हुए प्रसुप्त अवस्था में पड़ा हुआ है। वरन् जितना भी उसे अवसर मिल रहा है अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार उस ओर चल रहा है जिस ओर कि एक धर्म प्रेमी को चलना चाहिए।

यज्ञोपवीत पूर्णता का प्रतीक नहीं वरन् इस बात का चिन्ह है कि धर्म, कर्तव्य और संस्कृति की रक्षा की जिम्मे- दारी को स्वीकार कर लिया गया है और उस बोझ को उठाने के लिए कंधा लगा दिया गया है। कर्मवीरों की सेना में भर्ती हो जाना जैसा ही द्विजत्व का व्रत है। यह व्रत हर भारत माता की संतान को लेना चाहिए, चाहे वह वर्तमान स्थिति में किसी कदर अपने को निर्बल ही क्यों न अनुभव करता हो। अनेकों अनाथ बालक अपने जीवन का बोझ अपने ऊपर उठाते हैं वे अन्य बालकों की अपेक्षा अधिक चतुर हो जाते है। यद्यपि वयस्क पुरुष की भांति वे अपने बोझ को ठीक प्रकार उठा कर नहीं चल पाते बार बार भूलते और गलती करते हैं फिर भी जो कुछ भी वे कर पाते हैं वह सब भी कम प्रशंसा के योग्य नहीं होता। जो ऐसा अनुभव करते हैं कि हममें बहुत कमजोरी है जनेऊ हम से न सधेगा उन्हीं लोगों से हमारा इन पंक्तियों में विशेष अनुरोध है कि उपवीत को अवश्य धारण करें, यह कमजोरी ही इस बात का

प्रबल कारण है कि उन्हें ही इसके धारण की सबसे अधिक आवश्यकता है। यदि वे पूर्ण उपवीत न ले सकें तो आरंभ में अर्ध उपवीत-कंठी-लेकर कार्य आरंभ कर सकते हैं पर इस दिशा में उन्हें कदम अवश्य उठाना चाहिए।

यज्ञोपवीत का आरंभ-संस्कार पूर्वक होना चाहिए। यों कोई व्यक्ति किसी स्त्री को साथ लेकर चलदे और ग्रहस्थ धर्म पालन करने लगे तो भी प्रत्यक्षतः कुछ विशेष हर्ज दिखाई नहीं पड़ता, तो भी इतना निश्चित है कि देवताओं की साक्षी, प्रतिष्ठित पंच परमेश्वरों के सामने प्रतिज्ञा वचन स्वीकार करते हुए वेदमन्त्रों के साथ जो कन्यादान पाणिग्रहण-का शुभ संस्कार होता है उसको अकारण या व्यर्थ नहीं कहा जासकता। विवाह संबंध के समान ही यज्ञोपवीत भी, गुरु दीक्षा, गायत्री द्वारा वेदारंभ यह किसी कन्यादान और पाणिग्रहण से किसी प्रकार कम नहीं है।

जो लोग सम्पन्न हैं, जो सावित्री पतित नहीं हुए हैं अर्थात् जिनकी आयु अपने अपने वर्ण के हिसाब से (ब्राह्मण का उपवीत ५ से ८ वर्ष की आयु तक, क्षत्रिय का ६ से ११ तक, वैश्य का ८ से १२ तक हो जाना चाहिए) अधिक आयु न हुई हो, उन्हें विवेकवान विद्वान और आचरणवान् आचार्य से विधि पूर्वक उपनयन संस्कार कराना चाहिए।

जो लोग धनवान नहीं है, अधिक आयु के हो चुके हैं, जिन्हें अवकाश कम मिलता है, जिन्हें अपने निकट कोई उपयुक्त आचार्य ऐसा नहीं दिखाई पड़ता जो केवल चिन्ह पूजा कराने के अतिरिक्त आत्म निर्माण का पथ प्रदर्शन भी कर सके—तो भी निराश होने की कोई बात नहीं, इन कठि-नाइयों के कारण द्विजत्व का व्रत लेने का अनिवार्य कर्तव्य

न तो स्थगित करना चाहिए और न इसको 'फिर कभी' के लिए टालना चाहिए। वरन् जितना शीघ्र हो सके किसी उपयुक्त पथ प्रदर्शक को तलाश करके उसके द्वारा संक्षिप्त संस्कार के साथ उपवीत संस्कार करा लेना चाहिए और यज्ञोपवीत पहनना आरंभ कर देना चाहिए।

उपवीत धारण करने के साथ साथ वेदारंभ भी होता है। प्राचीन काल में गुरुकुलों में रह कर ब्रह्मचारी लम्बे समय तक गुरु मुख से वेद ज्ञान प्राप्त करते थे। आज यदि उतना संभव नहीं है तो भी यज्ञोपवीत के तत्वज्ञान को सविस्तार जान लेना भी किसी प्रकार वेद ज्ञान की पूर्ति कर सकता है। वेद में जिस ज्ञान की विशद व्याख्या है वह सब बीज रूप से गायत्री में मौजूद है। यदि उपवीत धारी व्यक्ति गायत्री को मनोयोग पूर्वक समझले तो उसे वेदाध्ययन का लाभ मिल सकता है। (१) उपवीत धारण, (२) गायत्री की दीक्षा, (३) पथ प्रदर्शक की नियुक्ति, यह तीन कार्य एक साथ होने चाहिए। यह त्रिविधि सुयोग जब एकसाथ मिलता है तो त्रिवेणी के मिलन से बने तीर्थराज जैसा महान फल मिलता है।

पाठको, उपवीत धारण करो! इस ऋषि ऋण को कंधे पर उठाने के लिए साहस एकत्रित करो! तुम ब्रह्म के अंश हो, ब्रह्म सूत्र तुम्हें तुम्हारे पिता से, ब्रह्म से, बांधता है, इस दिव्य बन्धन की उपेक्षा न करो। यह तुम्हारे लिए परम कल्याणकारी है। इस महान् मित्र को कंठ से लगाओ, छाती से चिपटाओ और कंधे पर धरे फिरो, क्यों कि यह सूत्र निर्जीव होते हुए भी तुम्हारे अन्तःकरण को सजीव बना सकता है तुम्हें अमरत्व प्रदान कर सकता है।

मुद्रक—युग निर्माण प्रेस, मथुरा

युग निर्माण मिशन-संक्षिप्त परिचय

उद्देश्य- मनुष्य में देवत्व का उदय, धरती पर स्वर्ग का अवतरण, व्यक्ति निर्माण, परिवार निर्माण, समाज निर्माण । विचार क्रांति, नैतिक क्रांति, सामाजिक क्रांति । जन-मानस का भावनात्मक परिष्कार ।

गठन- नव निर्माण के लिए तत्पर नित्य श्रमदान और अंशदान करने वाले पाँच लाख कर्मनिष्ठों का पारिवारिक गठन । दस-दस की टोलियाँ उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व के लिए निरत । प्रचारात्मक, रचनात्मक और सुधारात्मक कार्यक्रमों द्वारा मानवीय गरिमा को उभारने वाली गतिविधियों में संलग्न समुदाय ।

आधार- सदस्यों का दैनिक श्रमदान, अंशदान । बीस पैसा नित्य और एक घण्टा समय का नियमित अनुदान । इसी सामर्थ्य के बलबूते अनेकों अति महत्त्वपूर्ण गतिविधियों का गत 30 वर्ष से संचालन ।

संस्थान- (१) गायत्री तपोभूमि, मथुरा (२) युग निर्माण योजना, मथुरा (३) शांतिकुंज, हरिद्वार (४) ब्रह्मवर्चस, हरिद्वार (५) गायत्री ज्ञान पीठ, अहमदाबाद (६) पू. गुरुदेव की जन्मस्थली, आंवलखेड़ा जिला-आगरा ।

प्रकाशन-'युग निर्माण योजना' हिन्दी, युग शक्ति गायत्री' गुजराती व उड़िया मासिक पत्रिकाओं का नियमित प्रकाशन । ग्राहक संख्या लाखों में । जीवन साधना के संदर्भ में ५०० पुस्तकों का प्रकाशन देश की कई महत्त्वपूर्ण भाषाओं में निजी प्रेस द्वारा ।

गतिविधियाँ व प्रचार-धर्मतन्त्र से लोक शिक्षण, अग्नि साक्षी में सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने के संकल्प, रामायण व गीता के माध्यम से लोक शिक्षण । एक सौ पूर्ण समयदानी, सुयोग्य, सुसंस्कृत प्रचारकों का संगठन । नौ-नौ दिवसों के साधना सत्र और एक-एक महीने के युग शिल्पी सत्र । युग निर्माण विद्यालय मथुरा, ब्रह्मवर्चस् साधना हरिद्वार । टेप रिकार्डरों द्वारा युग सन्देश का विस्तार । कार्यक्षेत्र समस्त भारतवर्ष व विदेशों में प्रवासी भारतीय ।

अन्तिम सन्देश
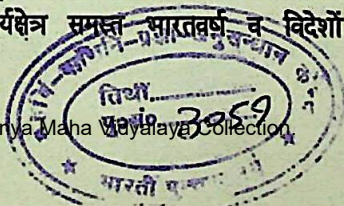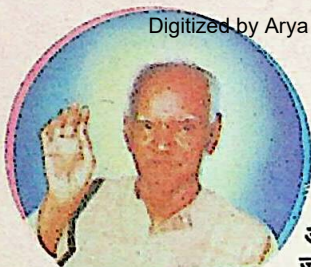
अस्सी वर्ष जी गयी लम्बी सोद्देश्य शरीर यात्रा पूरी हुई। इस अवधि में परमात्मा को हर पल अपने हृदय और अन्तःकरण में प्रतिष्ठित मानकर एक-एक क्षण का पूरा उपयोग किया है। शरीर अब विद्रोह कर रहा है, यूँ उसे कुछ दिन और घसीटा भी जा सकता है, पर जो कार्य परोक्ष मार्ग दर्शक सत्ता ने सौंपे हैं, वे सूक्ष्म और कारण शरीर से ही संपन्न हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में कृशकाय शरीर से मोह का कोई औचित्य नहीं है।

"ज्योति बुझ गई", यह भी नहीं समझा जाना चाहिये। अब तक के जीवन में जितना कार्य इस स्थूल शरीर ने किया है, उससे सौ गुना सूक्ष्म अन्तःकरण से संभव हुआ है। आगे का लक्ष्य विराट है। संसार भर के छः अरब मनुष्यों की अन्तश्चेतना को प्रभावित और प्रेरित करने, उनमें आध्यात्मिक प्रकाश और ब्रह्मवर्चस् जगाने का कार्य पराशक्ति से ही संभव है। परिजन, जिन्हें हमने ममत्व के सूत्र से बाँधकर परिवार के रूप में विस्तृत रूप दे दिया है, संभवतः स्थूल नेत्रों से हमारी काया को नहीं देख पायेंगे, पर हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि इस शताब्दी के अन्त तक, जब तक सूक्ष्म शरीर कारण के स्तर तक न पहुँच जाय, हम शान्तिकुञ्ज परिसर व प्रत्येक परिजन के अन्तःकरण में विद्यमान रहकर अपने बालकों में नवजीवन और उत्साह भरते रहेंगे। उनकी समस्या का समाधान उसी प्रकार निकलता रहेगा, जैसा कि हमारी उपस्थिति में उन्हें उपलब्ध होता।

हमारे आपसी सम्बन्ध अब और भी प्रगाढ़ हो जायेंगे क्योंकि हम बिछुड़ने के लिये नहीं जुड़े थे। हमें एक क्षण के लिये भुला पाना आत्मीय परिजनों के लिये कठिन हो जायेगा।

ब्रह्मकमल के रूप में हम तो खिल चुके, किन्तु उसकी शोभा और सुगन्धि के विस्तार हेतु ऐसे अगणित ब्रह्मबीज-देवमानव उत्पन्न कर जा रहे हैं, जो खिलकर समूचे संस्कृति सरोवर को सौन्दर्य सुवास से भर सकें, मानवता को निहाल कर सकें।

ब्रह्मनिष्ठ आत्माओं का उत्पादन, प्रशिक्षण एवं युग निर्माण के महान कार्यों में उनका नियोजन बड़ा कार्य है। यह कार्य हमारे उत्तराधिकारियों को करना है। शक्ति हमारी काम करेगी तथा प्रचण्ड शक्ति प्रवाह अगणित देवात्माओं को इस मिशन से अगले दिनों जोड़ेगा। उन्हें संरक्षण, स्नेह देने-खरादने, सँवारने का कार्य माताजी सम्पन्न करेंगी। हम सतयुग की वापसी के सरंजाम में जुट जायेंगे। जो भी संकल्पनायें नवयुग के सम्बन्ध में हमने की थीं, वे साकार होकर रहेंगी। इसी निमित्त काय पिंजर का सीमित परिसर छोड़कर हम विराट घनीभूत प्राण ऊर्जा के रूप में विस्तृत होने जा रहे हैं।

देव समुदाय के सभी परिजनों को मेरे कोटि-कोटि आशीर्वाद, आत्मिक प्रगति की दिशा में अग्रसर होने हेतु अगणित शुभकामनायें। —श्रीराम शर्मा आचार्य